राजकमल मनोविज्ञान माला ४

हमारे जीवन का अर्थ

(भाग एक)

डॉक्टर एल्फ्रेड एडलर

...ई है—सहयोग। सहयोग की इस नींव पर ही हमारे ...र सामाजिक जीवन का ढाँचा बनना आवश्यक है।" यही इस पुस्तक का मूल-सूत्र है।

राजकमल प्रकाशन

राजकमल मनोविज्ञान-माला—१

हमारे जीवन का अर्थ

(भाग एक)

लेखक की What Life Should Mean To You का अनुवाद

लेखक
डॉक्टर एल्फ्रेड एडलर

अनुवादक
श्री ओंप्रकाश



राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई इलाहाबाद पटना मद्रास

प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
बम्बई।

प्रथम संस्करण, १९४८
द्वितीयावृत्ति, १९५१
तृतीयावृत्ति, १९५७

मूल्य एक रुपया
राजकमल प्रकाशन
प्राइवेट लिमिटेड
1·25

मुद्रक
श्री गोपीनाथ सेठ,
नवीन प्रेस, दिल्ली।

प्रकाशक की ओर से

मनोविज्ञान-शास्त्र के विश्वविख्यात वैज्ञानिक डॉक्टर एल्फ्रेड एडलर की पुस्तक 'व्हट लाइफ़ शुड मीन टु यू' का हिन्दी-अनुवाद एक ही जिल्द में प्रकाशित करने की योजना पहले थी। इस बीच राजकमल मनोविज्ञान-माला का प्रारम्भ किया गया। हिन्दी-जगत् ने इस मनोविज्ञान-माला को अपनाया और यह सर्वप्रिय हुई। इसी माला के ग्राहकों के आग्रह से डॉक्टर एडलर की पुस्तक का भाषान्तर 'हमारे जीवन का अर्थ' नाम से राजकमल मनोविज्ञान-माला में छापा जा रहा है।

'हमारे जीवन का अर्थ' को छः जिल्दों में छापा जा रहा है। मूल पुस्तक के बारह अध्यायों का विभाजन इस तरह हुआ है:

भाग एक	१.	जीवन का अर्थ
	२.	मन और शरीर
भाग दो	३.	हीनता और श्रेष्ठता के भाव
	४.	प्रारम्भिक संस्मरण
भाग तीन	५.	स्वप्न
	६.	पारिवारिक प्रभाव
भाग चार	७.	स्कूल के प्रभाव
	८.	यौवन-काल
भाग पाँच	९.	अपराध-वृत्ति की रोकथाम
	१०.	व्यवसाय
भाग छः	११.	मानव का साथी मानव
	१२.	प्रेम और विवाह

क्रम

१. जीवन का अर्थ	...	५
२. मन और शरीर	...	३८

हमारे जीवन का अर्थ

: १ :

जीवन का अर्थ

हम लोग जिस दुनिया में रहते हैं, उसमें हर चीज़ का कुछ-न-कुछ अर्थ होता है। हम कभी कोरी परिस्थिति का अनुभव नहीं करते, परिस्थितियों का अनुभव सदा मनुष्य के प्रसङ्ग में ही हुआ करता है। मूल अनुभव भी हमारे मानव-उद्देश्यों से प्रभावित होते हैं। 'लकड़ी' का अर्थ है 'मानव के लिए आवश्यक लकड़ी', और 'पत्थर' का अर्थ है 'किस तरह पत्थर मनुष्य-जीवन से सम्बन्धित हो सकता है'। यदि कोई मनुष्य इस तरह के अर्थों से बचने की कोशिश करे और केवल परिस्थितियों तक अपने को सीमित रखे तो वह भाग्यहीन मनुष्य होगा। वह दूसरों से अपने को दूर कर लेगा, उसके सब काम-काज अपने या दूसरों के लिए व्यर्थ-से हो जायँगे; संक्षेप में वे अर्थहीन हो जायँगे। परन्तु कोई भी मनुष्य अर्थों की दुनिया से इस तरह दूर नहीं हट सकता। किसी भी घटना का हम जो अर्थ लगाते हैं उसी अर्थ के रूप में उस घटना का अनुभव करते हैं। घटना का अपना महत्त्व कुछ नहीं होता, महत्त्व उस अर्थ और प्रसङ्ग का होता है जिससे हम उस घटना को

जोड़ते हैं। इसलिए यह मान लेना ठीक होगा कि ये अर्थ प्रायः सदा ही सम्पूर्ण नहीं होते, और यह भी कि उन्हें हमेशा सच मान लेना भी उचित नहीं है। अर्थों की दुनिया तो भूलों की दुनिया है।

यदि हम किसी मनुष्य से पूछें कि 'जीवन का अर्थ क्या है' तो शायद वह इसका उत्तर न दे सके। ज्यादातर ऐसे प्रश्न उठाना और उनके उत्तर देने का कष्ट लोग नहीं करते। यह ठीक है कि यह प्रश्न उतना ही सनातन है जितना कि मानव का अपना इतिहास, और आज के युग में नवयुवक और बूढ़े लोग प्रायः यह प्रश्न पूछ बैठते हैं—"परन्तु जीवन का ध्येय क्या है? जीवन का अर्थ क्या है?" हम यह जानते हैं कि कहीं ठोकर खाने और हार होने पर ही ऐसे प्रश्न पूछे जाया करते हैं। जब तक जीवन की राह सुगम हो और मार्ग में कठिन परीक्षाएँ पेश न आएँ तो इस प्रश्न के लिए शब्द नहीं जुड़ते। लेकिन अपने व्यवहार में हर मनुष्य निश्चित रूप से इस प्रश्न को पूछा करता है और उसका उत्तर भी दिया करता है। यदि हम उसके मुख से निकले हुए वचनों पर ध्यान न देकर उसके व्यवहार पर ध्यान दें तो हमें मालूम हो जायगा कि अपने लिए उसने 'जीवन का अर्थ' समझ-बूझ लिया है और उसका हर इशारा, दृष्टिकोण, चाल-ढाल, बोलचाल का ढंग, इच्छाएँ, आदतें और चरित्र की विशिष्टताएँ उसी अर्थ से सम्बन्धित हैं। वह इस तरह व्यवहार करता है जैसे उसे जीवन में किसी

विशेष व्याख्या का सहारा हो। उसकी हरेक क्रिया में दुनिया और अपने को जिस तरह वह जाँचता-तोलता है उसका प्रतिबिम्ब रहता है। यह फैसला कि 'मैं इस तरह हूँ और दुनिया उस तरह है', और यह कि उसने अपने जीवन और दुनिया का क्या-क्या अर्थ लगाया है, उसके व्यवहारों में प्रदर्शित होता है।

इस तरह जीवन के उतने ही अर्थ समझे जाते हैं जितने कि दुनिया में आदमी हैं और जैसा कि हमने ऊपर कहा है, शायद प्रत्येक अर्थ में कुछ-न-कुछ ग़लती रहती है। कोई भी मनुष्य जीवन के सम्पूर्ण और त्रुटिहीन अर्थों से परिचित नहीं है, और हम यह भी कह दें कि जो भी अर्थ जीवन में कुछ भी उपयोगी सिद्ध हो सके उसे पूर्णतया दोषी नहीं ठहराया जा सकता। सभी अर्थ इन दो सीमाओं के भीतर आ जाते हैं। अर्थ की इन विभिन्नताओं में हम यह भेद तो कर सकते हैं कि कौनसे अर्थ अच्छे हैं और कौनसे अपेक्षाकृत कम अच्छे। कुछ ऐसे हैं कि जिनमें भूलें कम हैं और दूसरे जिनमें कि भूलें ज्यादा हैं। हम यह भी जान सकते हैं कि अच्छे अर्थों में क्या बात एक समान है और कम अच्छे अर्थों में किस बात की कमी है। इस तरह 'जीवन के अर्थ' का हम एक वैज्ञानिक उत्तर पा सकेंगे, जो वास्तविक अर्थों में एक समान होगा, और वह अर्थ ऐसा होगा जो दुनिया की वास्तविकताओं को भाँपने में हमें, जिस हद तक कि वे मानव से सम्बन्धित हैं, समर्थ करेगा। यहाँ हमें यह अवश्य ध्यान में रखना चाहिए

कि 'वास्तविक' का अर्थ है जो मानव के लिए वास्तविक हो, जो मनुष्यों के उद्देश्य और आदर्शों के लिए सत्य हो। इस वास्तविकता और सचाई से ऊपर कोई और सचाई नहीं है, और यदि कोई दूसरी सचाई है भी तो उससे हमारा कोई मतलब सिद्ध नहीं हो सकता; हम उसे कभी नहीं जान सकते; वह अर्थहीन होगी।

प्रत्येक मनुष्य पर तीन मुख्य बन्धन होते हैं, और इन्हीं बन्धनों का उसे ध्यान रखना पड़ता है। उसके लिए दुनिया की वास्तविकता इन्हीं से बनती है। उसके सामने जो समस्याएँ उठती हैं वे इन्हीं बन्धनों के कारण पैदा होती हैं। उसे सदा इन्हीं समस्याओं का हल ढूँढना होगा, क्योंकि यही सदा प्रश्न बनकर उसके सामने खड़ी रहती हैं, और वह जो भी उत्तर देगा उससे हमें पता चल जायगा कि उसने अपने लिए जीवन के क्या अर्थ लगाए हैं। इन बन्धनों में पहला बन्धन यह है कि हम इस सीमित धरती के धरातल पर रह रहे हैं, इसकी परिधि से बाहर नहीं। हमारा जो भी विकास होना है वह हमारे इस निवास-स्थान से उत्पन्न सीमाओं और सम्भावनाओं से परिमित रहता है। शारीरिक और मानसिक विकास हमें एक साथ करना है, ताकि हम पृथ्वी पर अपना वैयक्तिक जीवन बनाये रख सकें और मानव-सन्तति के सतत भविष्य में सहायक हों। यह एक ऐसा प्रश्न है जो प्रत्येक मनुष्य के सामने उठता है। इससे कोई भी व्यक्ति दूर नहीं रह सकता। हम जो कुछ भी करते हैं, हमारे व्यवहार में ही मानव-जीवन की स्थिति के प्रति

हमारा अपना उत्तर रहता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हम क्या बात आवश्यक, उचित, सम्भव और ठीक समझते हैं। प्रत्येक उत्तर इस सत्य से ओत-प्रोत रहता है कि हम मानव-मात्र से सम्बन्धित हैं और इस धरती पर ही मानव का निवास है।

यदि हम मनुष्य के शरीर की कमियों और उन अनिश्चित परिस्थितियों का, जिनमें हमें रहना पड़ता है, खयाल करें तो हमें मालूम होगा कि हमें अपने जीवन और मानव-मात्र की भलाई के लिए कितना यत्न करना चाहिए कि हमारे उत्तर ठोस, दूरदर्शितापूर्ण और स्पष्ट हों। यह समस्या तो गणित की किसी समस्या के समान है जिसका हल ढूँढने की कोशिश हमें करनी है। हम अनुमान से अथवा अस्त-व्यस्त तरीकों से इसका हल नहीं पा सकते, परन्तु दत्तचित्त होकर और समस्त प्राप्य साधनों का उपयोग करके हमें इस पर काम करना है। हम बिलकुल शुद्ध और सम्पूर्ण उत्तर नहीं पा सकेंगे—एक ऐसा उत्तर जो सदा के लिए निश्चित हो, फिर भी हमें अपनी समान योग्यता का प्रयोग ठीक उत्तर पाने के लिए करना ही चाहिए। हमें इस विषय में सदा प्रयत्नशील होना चाहिए कि हम बेहतर उत्तर पा सकें और वह उत्तर सदा ही इस सत्य से सम्बन्धित होना चाहिए कि हम इस सीमित धरती के धरातल से, इस स्थिति के लाभ और हानियों सहित, बँधे हुए हैं।

अब हम दूसरे बन्धन पर आते हैं। केवल हम ही इस मानव-जाति के सदस्य नहीं हैं। हमारे चारों ओर दूसरे लोग भी हैं और हम उनसे सहयोग कर रहे हैं। किसी अकेले मनुष्य की कमियाँ और सीमाएँ उसके लिए यह असम्भव कर देती हैं कि वह अपने उद्देश्य अलग-थलग रहकर पूरा कर सके। यदि वह अकेले रहने की और अपनी समस्याओं से स्वयं ही भिड़ने की कोशिश करेगा तो वह नष्ट हो जायगा। वह अपना जीवन नहीं बिता सकेगा, न वह मानव-जाति के जीवन-प्रवाह में ही वृद्धि और उन्नति कर सकेगा। सदा ही वह अन्य मनुष्यों से बँधा रहता है और इस बन्धन का कारण उसकी अपनी कमजोरियाँ, कमियाँ और सीमाएँ होती हैं। अपनी भलाई और मानव-मात्र की भलाई के लिए सबसे बड़ा कदम तो दूसरों से सहयोग में है। इसलिए जीवन-समस्या के प्रश्न के प्रत्येक उत्तर को इस बन्धन का ध्यान अवश्य करना चाहिए। यह उत्तर इस सत्य की छाप लिये हुए होना चाहिए कि हम सहयोग से ही जी रहे हैं और अकेले होने पर नष्ट हो जायँगे। यदि हमें जीवित रहना है तो हमारी भावनाओं का भी इस महानतम समस्या, आदर्श या ध्येय से सामञ्जस्य होना चाहिए कि हम अपने वैयक्तिक जीवन को इस भूमि पर, जहाँ हम रहते हैं, दूसरे मनुष्यों से सहयोग करते हुए जारी रखें और मानव-जाति की शृङ्खला अटूट बनी रहे।

एक तीसरा बन्धन भी है जो हमें बाँधे हुए है। मनुष्य

जाति दो लिंगों में बँटी है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की रक्षा के प्रश्न के लिए इस सचाई का ध्यान अवश्य करना पड़ेगा। प्रेम और विवाह का प्रश्न इस तीसरे बन्धन से सम्बन्धित है। कोई भी पुरुष या स्त्री इस सम्बन्ध में उत्तर देने से बच नहीं सकता। इस प्रश्न के पेश होने पर कोई मनुष्य कुछ भी करे, उसका उत्तर यही होता है। इस प्रश्न का हल दुनिया में कितने ही तरीकों से हुआ करता है। उनका व्यवहार वही राह बता देता है जिससे वे समझते हैं कि यह प्रश्न उनके विषय में सुलझाया जा सकता है। ये तीन बन्धन इस प्रकार तीन प्रश्न खड़े कर देते हैं—किसी ऐसे व्यवसाय को हम किस तरह अपनाएँ जिससे पृथ्वी की सीमाओं से परिमित रहते हुए हम जीवित रहने में समर्थ हो सकें; अपने मानव-साथियों में हम किस तरह अपने लिए स्थान बना लें ताकि हम सहयोग करें और स्वयं भी सहयोग के लाभ प्राप्त करें; हम इस सत्य से किस तरह अपने को सन्तुलित कर लें कि हम दो लिङ्गों में बँटे हैं और मानव-जाति का भविष्य अक्षुण्ण रहना हमारे प्रेम-जीवन पर निर्भर है।

वैयक्तिक मनोविज्ञान ने जीवन की ऐसी कोई भी समस्या नहीं पाई जो इन तीन समस्याओं के अन्तर्गत न हो—व्यवसाय सम्बन्धी, सामाजिक और यौन-सम्बन्ध विषयक। इन्हीं तीन प्रश्नों के प्रतिक्रियात्मक व्यवहार में प्रत्येक मनुष्य निश्चय ही जीवन के अर्थ की आन्तरिक अनुभूति प्रकट करता है। उदाहरण

के लिए एक ऐसा व्यक्ति लीजिए जिसका प्रेम-जीवन अधूरा है, जो अपने व्यवसाय की उन्नति में विशेष प्रयत्न नहीं करता, जिसके बहुत कम दोस्त हैं और जिसके लिए दूसरे मनुष्यों के सम्पर्क में आना दुःखदायी होता है। उसके जीवन की ऐसी क्षुद्र परिधि से हम यह अन्दाजा लगा सकते हैं कि वह अपने जीवन को कठिन और भयावह बात मानता है, जिसमें आगे बढ़ने के अवसर न हों और केवल पराजय की सम्भावना ही हो। उसकी क्रियाओं का छोटा दायरा तो उसके इसी निष्कर्ष की ओर इशारा करता है—"जीवन का अर्थ है, मैं अपने-आपको प्रहारों से बचाऊँ, अपने चारों ओर किलाबन्दी कर लूँ, बिना किसी बाह्य सम्पर्क के बच निकलूँ।" दूसरी ओर किसी ऐसे व्यक्ति की कल्पना कीजिए जिसका प्रेम-जीवन गम्भीर है और बहुविध सहयोग की नींव पर टिका है, जिसका काम-काज उपयोगी परिणामों की सृष्टि करता है, जिसके बहुत से दोस्त हैं और जिसका सहयोगियों से सम्पर्क अधिक और लाभदायी है। ऐसे व्यक्ति के विषय में हम कह सकते हैं कि वह जीवन को सृजन के एक कर्त्तव्य की तरह मानता है, जिसमें उन्नति के अनेक अवसर हों और पराजय अवश्यम्भावी न हो। जीवन की समस्याओं का वह जिस साहस से मुकाबला करता है उससे जान पड़ता है कि वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा है—"जीवन का अर्थ है, मैं अपने साथी मनुष्यों में दिलचस्पी लूँ, सम्पूर्ण का एक अंश होऊँ, मानव-मात्र की भलाई के

लिए अपना कर्त्तव्य-भाग निबाहूँ।"

यहीं पर हम 'जीवन के अर्थों' में समान भूलों और 'जीवन के अर्थों' में समान सचाइयों के मापदण्ड को पाते हैं। दुनिया में सब बिफल मनुष्य—विक्षिप्त, दुर्बल-चित्त, अपराधी, शराबी, ढीठ बच्चे, आत्म-हत्या करने वाले, कुमार्गी और वेश्याएँ—इसीलिए विफल होते हैं क्योंकि वे दूसरों में दिलचस्पी नहीं लेते और सामाजिक भावना नहीं पैदा करते। व्यवसाय, दोस्ती और यौन-सम्बन्ध की समस्याओं को वे इस विश्वास से सुलझाने का यत्न नहीं करते कि ये सहयोग और सुगमता से सुलझाई जा सकती हैं। जीवन के जो अर्थ वे लगाते हैं वे उनके अपने वैयक्तिक अर्थ होते हैं; उनके अपने उद्देश्यों की पूर्ति से किसी दूसरे को लाभ नहीं होता और उनकी दिलचस्पी अपने व्यक्तित्व तक ही सीमित रहती है। सफलता के अर्थ वे अपनी काल्पनिक वैयक्तिक उच्चता से लेते हैं और उनकी प्रत्येक विजय उन्हीं के लिए सार्थक होती है। हत्यारों ने यह कहा है कि हाथ में जहर की शीशी होने पर वे कितने शक्तिशाली होने का अनुभव करते हैं। परन्तु इस बात से तो अपने महत्त्व को वे अपने ही सामने बघारते हैं; हमारे लिए उनके हाथ में ज़हर की शीशी का होना उन्हें अधिक शक्तिशाली नहीं बना देता। वास्तव में कोई भी वैयक्तिक अर्थ सफल नहीं समझा जा सकता। अर्थ तो तभी सार्थक होता है जब उसे दूसरे समझ सकें। कोई ऐसा शब्द, जिसका भाव

एक व्यक्ति ही समझ सके, निरर्थक ही माना जायगा। यही बात हमारे आदर्शों और व्यवहार के लिए कही जा सकती है। वे तभी सार्थक होंगे जब दूसरों के लिए उनका कुछ अर्थ होगा। प्रत्येक मनुष्य अपने महत्त्व के लिए कोशिश करता है, परन्तु लोग प्रायः ग़लती करते हैं जब वे यह नहीं समझते कि उनका सारा महत्त्व दूसरों के जीवन में सहायक होने से ही बनता है।

एक छोटे-से धार्मिक संगठन के विषय में एक दन्तकथा प्रसिद्ध है। इस संगठन की नेत्री ने अपने अनुयायियों को एक दिन इकट्ठा किया और उन्हें बताया कि अगले बुधवार को संसार में प्रलय हो जायगी। उसके अनुयायी इस खबर से प्रभावित हुए, अपनी सम्पत्ति उन्होंने बेच दी, सांसारिक मोह-जाल से पल्ला तोड़ा और उत्सुकता से आने वाली प्रलय की प्रतीक्षा करने लगे। लेकिन बिना किसी असाधारण दुर्घटना के वह बुधवार बीत गया। बृहस्पतिवार को इकट्ठे होकर वे अपनी नेत्री के पास गये। उन्होंने कहा—"देखो, हमें कितनी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ रही हैं। हमने अपने स्थानादि सब बेच दिए हैं। जिस किसी से भी हम मिले उससे कहा कि बुधवार को दुनिया की समाप्ति हो जायगी और जब यह सुनकर उन्होंने उपहास किया तो भी हम निराश नहीं हुए और उन्हें बताया कि एक परम विश्वस्त सूत्र से इस आगामी विपत्ति से हम परिचित हैं। बुधवार बीत गया है और दुनिया ज्यों-की-त्यों है।" इस अवतार-नेत्री

ने इस पर उत्तर दिया—"परन्तु जिस बुधवार की बाबत मैंने कहा था वह आपका यह बुधवार नहीं है।" इस तरह अपने वैयक्तिक अर्थ बताकर उसने अपने-आपको विरोध से सुरक्षित कर लिया। वैयक्तिक अर्थों की कभी परीक्षा नहीं हो सकती।

जीवन के सच्चे अर्थों का चिह्न यह है कि वे साधारण अर्थ हैं। वे ऐसे अर्थ हैं जिनमें दूसरे हिस्सा बाँट सकते हैं; ऐसे अर्थ जिन्हें दूसरे भी उचित ठहरा सकते हैं। जीवन की समस्याओं का कोई भी अच्छा हल दूसरों का मार्ग भी सहल कर देगा, क्योंकि उसमें सार्वजनिक समस्याओं से सफलता से निपटने का तरीका हमें मिलेगा। अपूर्व विवेक का अर्थ भी महत्तम उपयोगिता से ही किया जा सकता है। जब किसी मनुष्य के जीवन को दूसरे लोग अपने लिए उपयोगी और महत्त्वपूर्ण समझें तभी उस मनुष्य को परम विवेकी कहा जाता है। ऐसे जीवन में जीवन का अर्थ इस तरह माना जाता है—"जीवन का अर्थ है, सम्पूर्णता में अपना अंश प्रदान करना।" यहाँ हम मौखिक धारणाओं की बात नहीं कर रहे हैं। मौखिक धारणाओं से कान हटाकर हम व्यावहारिक नतीजों पर ध्यान दे रहे हैं। उस मनुष्य का, जो मानव-जीवन के प्रश्नों का सफलतापूर्वक सामना करता है, व्यवहार ऐसा होता है जैसे उसने पूरी तरह और स्वयमेव ही यह जान लिया है कि जीवन का अर्थ दूसरों में दिलचस्पी और सहयोग से है। वह जो कुछ भी करता है, जान पड़ता है कि मानव-जीवन के हित की दृष्टि से

प्रभावित होकर कर रहा है, और जहाँ भी कठिनाइयाँ उसके सम्मुख आईं वह उन्हें ऐसे साधनों से पार पाने का प्रयत्न करता है जिनका कि मानव की भलाई से सामञ्जस्य हो।

शायद कई लोगों के लिए यह दृष्टिकोण एक नई चीज़ हो और हो सकता है कि जीवन के जो दूसरों में दिलचस्पी, सहयोग और त्याग के अर्थ हम दे रहे हैं वे उसमें सन्देह करें। वे शायद पूछें—"परन्तु व्यक्ति के विषय में आपका क्या कहना है? यदि वह सदा दूसरों के विषय में ही सोचता रहता है और दूसरों के हित में अपने को लीन रखता है, तो क्या उसका अपना व्यक्तित्व सीमित नहीं रह जायगा? क्या थोड़े-से भी व्यक्तियों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि यदि उन्हें अपना पूरा विकास करना है तो वे अपने पर ही पूरा ध्यान दें? क्या हममें से ऐसे लोग नहीं हैं जिन्हें पहले यह सीखना चाहिए कि वे अपने हितों की रक्षा करें और अपने व्यक्तित्व को मजबूत बनाएँ?" मैं समझता हूँ कि यह दृष्टिकोण बहुत ग़लत है और जो यह प्रश्न खड़ा किया है वह तथ्यहीन प्रश्न है। यदि कोई मनुष्य जीवन के जो अर्थ वह लगाता है, उनके अनुसार जीवन को कुछ प्रदान करना चाहता है और यदि उसकी सब भावनाएँ इसी उद्देश्य की ओर जुट गई हैं, तो स्वभावतः यह आवश्यक है कि ऐसे दान के लिए वह अपने को उद्देश्य के योग्य बना लेगा। वह सामाजिक भावना में अपने को शिक्षित करेगा और इस प्रकार अभ्यास से वह कुशल बनेगा। उद्देश्य निश्चित हो जाने पर आवश्यक सूझ-बूझ

पा लेना सहज है। तभी और केवल इसी दशा में वह इस योग्य हो सकेगा कि जीवन के तीन प्रश्नों का हल ढूँढ सके और अपनी योग्यताओं का विकास कर सके। उदाहरण के लिए हम प्रेम और विवाह का प्रश्न लें। यदि हम अपने सहचर में दिलचस्पी रखते हैं, यदि हम इस कोशिश में हैं कि अपने संगी के जीवन को सुगम बनाएँ, तो निस्सन्देह हम अपने को हर सम्भव रीति से आदर्श बनाने की कोशिश करेंगे। यदि हम यह सोचते हैं कि हमें व्यक्तित्व का विकास शून्य में ही करना है और 'प्रदान' का कोई उद्देश्य हमारे सामने नहीं है, तो हम अपने को केवल दूसरों पर झूठा रोब डालने वाला और दुःख-दायी बनाकर रह जायँगे।

एक और बात है जिससे हमें पता चलता है कि जीवन में 'प्रदान' ही जीवन का सच्चा अर्थ है। यदि आज हम अपने चारों ओर उस सांस्कृतिक सम्पत्ति को देखें जो हमारे पूर्वज हमारे लिए छोड़ गए हैं तो हम क्या देखते हैं? जो कुछ उनसे शेष रहा है वह केवल वही है जो कुछ उन्होंने मानव-जीवन को दिया था। हम खेती-बाड़ी की भूमि को देखते हैं; सड़कें और मकान खड़े हैं; जीवन-परम्परा, विचारधारा, विज्ञान और कलाओं के अनुभव, मानवीय परिस्थितियों में व्यवहार करने के ढंग जो कुछ भी हम तक पहुँचा है हम उसी में पूर्वजों को पाते हैं। यह निष्कर्ष वे लोग छोड़ गए हैं जो मानव की सुख-वृद्धि में सहायक हुए थे। और बाकी दूसरों का क्या हुआ है? उनका

क्या हुआ है जिन्होंने कभी सहयोग नहीं किया था; जिन्होंने जीवन के भिन्न अर्थ लगाए थे, जो केवल यही पूछते थे—"मैं ज़िन्दगी से क्या पा सकता हूँ ?" वे अपने पीछे अपना कोई भी चिह्न नहीं छोड़ गए। वे केवल मर ही नहीं चुके हैं, उनके सारे जीवन ही व्यर्थ थे। ऐसा जान पड़ता है जैसे हमारी पृथ्वी ने स्वयं उनसे कहा हो—"मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं है। तुम जीवन के उपयुक्त नहीं हो। तुम्हारे ध्येय और आदर्शों का, तुम्हारे पसन्द के जीवन-मूल्यों का, तुम्हारे मन और आत्मा का कोई भविष्य नहीं है। तुम दूर हट जाओ। तुम्हारी यहाँ जरूरत नहीं है। मरो और लोप हो जाओ।" उन लोगों को, जो ज़िन्दगी का अर्थ सहयोग के अतिरिक्त कुछ और लगाते हैं, अन्तिम बात यही कही जा सकती है—"तुम व्यर्थ हो। कोई भी तुम्हें नहीं चाहता, चले जाओ !" हम आज की संस्कृति में निस्सन्देह कितनी ही कमियाँ पा सकते हैं। हम जहाँ देखें कि यह विफल हो रही है, हमें इसमें परिवर्तन कर देना चाहिए, परन्तु परिवर्तन ऐसा होना चाहिए जो मानव-हित का पहले से अधिक संवर्धन करे।

ऐसे मनुष्य सदा हुए हैं जो इस सत्य से परिचित रहे हैं, जो यह जानते थे कि जीवन का अर्थ समस्त मानव-जाति में दिल-चस्पी रखना है, और जो सामाजिक अनुभूति और प्रेम को बढ़ाने की कोशिश किया करते थे। सभी धर्मों में मनुष्य के परमार्थ के लिए इस चिन्ता को पाया जाता है। दुनिया के

सभी बड़े आन्दोलनों में कितने ही मनुष्य सामाजिक अनुभूति को बढ़ाने का प्रयत्न करते रहे हैं, और धर्म इस तरह के बड़े प्रयत्नों में से एक प्रयत्न है। लेकिन धर्म प्रायः गलत ही समझे जाते रहे हैं, और यह नहीं कहा जा सकता कि जो कुछ काम वे आज कर रहे हैं तब तक उससे अधिक कर सकते हैं, जब तक कि वे इस कर्त्तव्य को अधिक दृढ़ता से निभाने का भार न उठाएँ। वैयक्तिक मनोविज्ञान इस निष्कर्ष पर वैज्ञानिक ढंग से पहुँचता है और एक वैज्ञानिक कार्य-प्रणाली सुझाता है। मैं समझता हूँ कि यह एक प्रगतिशील कदम है। शायद विज्ञान लोगों की दूसरे लोगों में और मानव के सर्वसाधारण हितों में दिलचस्पी बढ़ाने में (राजनीतिक या धार्मिक आन्दोलनों को इस आदर्श के समीपतर होने में पीछे छोड़कर) समर्थ हो जायगा। हम इस समस्या पर एक भिन्न दृष्टिकोण से विचार करते हैं, परन्तु आदर्श एक वही होता है—दूसरों में दिलचस्पी बढ़ाना।

हमने देखा है कि जीवन को दिया हुआ अर्थ हमारी जीवन-यात्रा के महा सुखदायी या दुःखदायी होने का कारण बन जाता है, इसलिए स्पष्टतया हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि ये अर्थ किस तरह बनते हैं, वे एक-दूसरे से क्यों भिन्न होते हैं और यह कि उनकी बड़ी गलतियाँ कैसे सुधारी जा सकती हैं। यह अनुसन्धान का काम मनोविज्ञान-शास्त्र का है, देह-शास्त्र अथवा जीव-शास्त्र का नहीं—मानव के हित के लिए 'अर्थों' का अभिन्न परिचय और इस बात की समझ कि ये अर्थ किस

तरह मनुष्य के व्यवहार और मनुष्य के भविष्य को प्रभावित करते हैं। बचपन के आरम्भ के दिनों से ही जीवन के अर्थ के लिए टटोल पाई जाती है। एक छोटा बच्चा भी अपनी शक्तियों का अनुमान लगाने और जो ज़िन्दगी उसको चारों ओर घेरे हुए है उसमें अपना हिस्सा समझने की कोशिश किया करता है। पाँचवें वर्ष के अन्त तक बच्चा व्यवहार का एक नियत नक्शा बना चुका होता है, कर्त्तव्यों और समस्याओं का मुकाबला करने का अपना तरीका ढूँढ चुका होता है। दुनिया से और खुद अपने-आपसे उसे क्या आशा है, इसका वह गहरा और स्थायी अन्दाज़ा लगा चुकता है। अब से वह दुनिया को परखने की एक निश्चित योजना के अनुसार परखता है, नये अनुभवों को स्वीकार कर लेने से पहले उनकी व्याख्या की जाती है और यह व्याख्या सदैव ही जीवन को दिये गए अर्थों के अनुसार ही होती है। चाहे इन अर्थों में भयंकर भूल हो, चाहे कर्त्तव्यों और समस्याओं का सामना करने का ढंग हमें बार-बार कठिनाइयों में डाले और नये-नये दुःख पैदा करे, इनसे पल्ला छुड़ाना सहल नहीं होता। जीवन के अर्थों में गलती तभी सुधर सकती है जबकि उस परिस्थिति का पुनर्विचार किया जाय जिसमें वे अर्थ बनाये गए थे, इस परिस्थिति की कमियाँ समझी जायँ और दुनिया को परखने के लिए बना ली गई कसौटी को बदल लिया जाय। बहुत ही कम हालतों में, शायद, कोई व्यक्ति अपने गलत व्यवहार के परिणामों से जीवन को जो

अर्थ उसने दिये हैं उन्हें बदलने में और इस परिवर्तन को खुद ही कर लेने में सफल हो जाय। लेकिन बिना किसी सामाजिक दबाव के या बिना इस बात को जाने कि यदि वह अपने पुराने ढङ्ग पर चलता रहा तो उसे ठोकरें खानी पड़ती हैं, वह कभी ऐसा नहीं कर सकता। वैसे अधिकतर अपनी पुरानी समझ-बूझ को वह किसी ऐसे व्यक्ति की सहायता से ही बदल सकता है जिसे इन अर्थों की पहचान हो, जो आरम्भ की गलतियों को ढूँढ सके और बेहतर अर्थ समझाने में सहायक हो सके।

अब हम इस बात का एक उदाहरण लें कि किस तरह बाल्य-काल की परिस्थितियों की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ कर ली जाती हैं। बचपन के जो एक समान दुःखदायी अनुभव भी होते हैं उनके भी परस्पर-विरोधी अर्थ लगा लिये जाते हैं। एक ऐसा मनुष्य, जिसका भूतकाल दुःखदायी अनुभवों से भरा हो, तब तक उन पर अपना ध्यान आकर्षित नहीं करता जब तक कि उसे यह विचार न हो कि ऐसा करने से इस सम्बन्ध में भविष्य का कुछ सुधार हो सकता है। वह ऐसा अनुभव करता है—"हमें ऐसी दुःखदायी परिस्थितियों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए और कोशिश करनी चाहिए कि हमारी सन्तान हमसे बेहतर स्थिति में से गुजरे।" दूसरा मनुष्य इस तरह अनुभव कर सकता है—"जीवन ही अन्यायपूर्ण है। दूसरे लोगों को सभी ऐश्वर्य प्राप्त हैं। यदि दुनिया मुझसे ऐसा व्यवहार कर रही है, तो मैं दुनिया के प्रति क्यों अच्छा व्यवहार करूँ ?" कुछ माता-पिता

अपने बच्चों के लिए इस तरह भी कहते हैं—"जब मैं बच्चा था, मुझे भी इतने ही कष्ट उठाने पड़े थे, लेकिन उन्हें सहकर मैंने वे दिन बिता दिए। अब ये बच्चे ऐसा क्यों न कर सकेंगे ?" एक तीसरा मनुष्य इस तरह सोचेगा—"मेरे दुःखदायी बचपन का ध्यान करते हुए मुझे हर चीज़ माफ़ होनी चाहिए।" इन तीनों व्यक्तियों की क्रियाओं में उनकी व्याख्याएँ प्रतिबिम्बित होंगी और तब तक वे अपनी क्रियाओं को बदल नहीं सकेंगे जब तक कि अपनी व्याख्याओं में परिवर्तन नहीं कर लेंगे। ठीक ऐसे ही मामलों में वैयक्तिक मनोविज्ञान नियतिवाद के सिद्धान्त को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। कोई भी अनुभव सफलता या विफलता का कारण नहीं होते। हम अपने अनुभवों की चोट से दु:खी नहीं होते, परन्तु जैसा कि हम चाहते हैं उन्हें समझ लेते हैं। अपने अनुभवों को जो अर्थ हम देते हैं वही हमारी नियति-रेखा निर्धारित करता है, और जब हम किन्हीं विशिष्ट अनुभवों को अपने आगामी जीवन का आधार बना लेते हैं तो शायद सदा ही इसमें कहीं-न-कहीं कोई-न-कोई ग़लती भी रहती है। परिस्थितियाँ व्याख्याओं को निश्चित नहीं करतीं, परन्तु उन परिस्थितियों की व्याख्या लगाकर हम अपना भविष्य स्वयं निश्चित करते हैं।

लेकिन बाल्य-काल की कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी हैं जिनके प्रायः बहुत ही ग़लत अर्थ किये जाते हैं। ऐसी परिस्थितियों के बच्चों से ही दुनिया में विफल मनुष्यों की अधिक संख्या

आती है। पहले हम उन बच्चों को लें जिनका कोई अंग विकृत हो, या जो बचपन में बीमारी या शारीरिक त्रुटियों से असहाय रहे हों। ऐसे बच्चों पर अधिक बोझ पड़ जाता है और उनके लिए यह समझना कठिन हो जाता है कि जीवन का अर्थ सह-योग है। जब तक उनके पास कोई ऐसा व्यक्ति न हो जो उनका ध्यान उनसे दूर और दूसरों में आकर्षित करता रहे, सम्भव है कि अधिकतर वे अपने भावावेशों में ही रत रहा करें। बाद में अपने चारों तरफ के लोगों से अपनी तुलना करके उनमें निराशा के भावों का सञ्चार भी हो सकता है, और आज की हमारी सभ्यता में यह भी सम्भव है कि उनके हीन-भावों को अपने साथियों की दयार्द्रता, मजाक अथवा उनसे कतराने के रवैये से और भी दृढ़ता मिले। यह सब वातावरण उन्हें अपनी ओर ही लौटने को मजबूर कर सकता है; वे इस आशा को गँवा सकते हैं कि सार्वजनिक जीवन में वे कोई उपयोगी भाग ले सकेंगे और वे संसार द्वारा अपने को वैयक्तिक रूप में अपमानित मानने लगेंगे।

मैं समझता हूँ कि मैं पहला व्यक्ति था जिसने ऐसे बच्चों के विषय में लिखा जिनके अङ्ग विकृत हों अथवा जिनकी ग्रन्थियों से रस-प्रवाह सर्वसाधारण-सा नहीं हो रहा। विज्ञान की इस शाखा ने अब बड़ी तरक्की कर ली है, परन्तु जिस विचार-धारा के अनुसार इसे उन्नति करते देख मुझे प्रसन्नता होती उसके अनुसार नहीं। मैं आरम्भ से ही कोई ऐसा उपाय ढूँढ

लेना चाहता था जिससे कि इन कठिनाइयों से पार पाया जा सके—विफलता का उत्तरदायित्व पैतृक देन पर अथवा शारीरिक स्थिति पर डाल देने का बहाना नहीं। अङ्गों की किसी तरह की भी अपूर्णता जीवन के प्रति ग़लत रवैये को मजबूर नहीं करती। हमें कोई भी दो ऐसे बच्चे नहीं मिल सकेंगे जिनकी ग्रन्थियों के रस का उन पर एक-सा प्रभाव हो। हमें ऐसे बच्चे प्रायः मिलेंगे जो इन कठिनाइयों का मुकाबला कर लेते हैं और जो इन कठिनाइयों को पार करते हुए असाधारण समर्थताएँ पैदा कर लेते हैं। इस तरह वैयक्तिक मनोविज्ञान सुसन्तानोत्पादन (यूजनिक सिलेक्शन) की योजनाओं के लिए कोई अच्छा विज्ञापन नहीं है। सुप्रसिद्ध मनुष्यों में से बहुत से मनुष्य—ऐसे मनुष्य जिन्होंने हमारी संस्कृति को बहुत-कुछ प्रदान किया—बचपन में असम्पूर्ण अङ्गों वाले थे। प्रायः उनका स्वास्थ्य गिरा रहता था और कुछ तो छोटी आयु में मर भी गए। मुख्यतया इसी प्रकार के लोगों द्वारा, जिन्हें शरीर की और बाह्य परिस्थितियों की कठिनाइयों से कठिन संघर्ष करना पड़ा, सांसारिक और सांस्कृतिक उन्नति देखने में आई है। संघर्षों ने उन्हें मजबूत बनाया और वे आगे बढ़ते रहे। शरीर से तो हम यह अनुमान नहीं लगा सकते कि मानसिक विकास अच्छा रहेगा या विकृत। लेकिन अब तक ऐसे बच्चे, जो विकृत अङ्ग या ग्रन्थियों वाले हों, अधिकतर ठीक तरह की शिक्षा नहीं पाते, उनकी कठिनाइयाँ समझी नहीं जातीं और वे केवल अपने

व्यक्तित्व में ही दिलचस्पी लेने के अभ्यासी हो जाते हैं। यही कारण है कि विफल मनुष्यों की अधिक संख्या बचपन में विकृत अङ्गों वाले बच्चों से आती है।

जीवन के अर्थ गलत समझने में सहायक होने वाली एक दूसरी परिस्थिति उस बच्चे की होती है जो बहुत लाड-प्यार में पला हो। लाड-प्यार के पले बच्चे को ऐसी समझ-बूझ मिली होती है कि वह अपनी इच्छाओं को कानून समझता है। बड़ाई के लिए बिना कोई प्रयत्न किये ही उसे बड़ाई मिलती रहती है, और साधारणतया वह यह मानने लग जाता है कि बड़ाई पाना उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। परिणामस्वरूप जब वह अपने को ऐसे वातावरण में पाता है, जहाँ वह आकर्षण का केन्द्र न हो और जहाँ दूसरे लोग उसके भावों का विशेष आदर करने की चेष्टा नहीं करते, तो वह डावांडोल हो उठता है। वह यह सोचने लगता है कि उसकी दुनिया ने उसे धोखा दिया है। उसे तो केवल लेने की ही शिक्षा मिली है, देने की नहीं। दुनिया की समस्याओं को सुलझाने का कोई और दूसरा ढङ्ग उसने नहीं सीखा। दूसरे लोग उसके सामने इतना झुके रहे हैं कि वह अपनी स्वतन्त्रता खो चुका है और नहीं जानता कि बिना दूसरों की सहायता के वह स्वयं भी कुछ कर सकता है। उसका आकर्षण अपने में ही निहित रहा है और सहयोग की आवश्यकता और लाभ उसने कभी नहीं जान पाया। जब उसके सामने कठिनाइयाँ उपस्थित हों, उनका मुकाबला करने का उसके

पास एक ही तरीका है—दूसरे लोगों पर बोझ डाल देना। वह सोचता है कि यदि अपनी बड़ाई का पद वह फिर पा सके, यदि दूसरों को यह मान लेने पर मजबूर कर सके कि वह एक विशिष्ट व्यक्ति है और उसकी प्रत्येक इच्छा पूरी होनी चाहिए, तभी उसकी परिस्थितियाँ सुधर सकेंगी।

बड़ी आयु के ऐसे बिगड़े बच्चे हमारे समाज में शायद सबसे अधिक खतरनाक होते हैं। सम्भव है कि उनमें से कुछ एक अपनी सद्भावना का ढिंढोरा पीटते रहें, या दूसरों पर छा जाने के उद्देश्य से वे अपने को बहुत 'प्रिय' व्यक्ति भी बना लें; परन्तु वे साधारण मनुष्यों की तरह, साधारण मनुष्यों की कर्त्तव्य-पूर्ति में सहयोगी होने के तो एकदम विरोधी होते हैं। कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो सहयोग का खुल्लमखुल्ला विरोध करते हैं। जिस भावना, आदर और गुलामी पाने के वे अभ्यस्त हो चुके थे उसे अब न पाकर वे समझने लगते हैं कि उनको धोखा दिया गया है। समाज को वे अपने हितों का दुश्मन मान लेते हैं और सभी लोगों से बदला लेने में तत्पर रहते हैं। और यदि समाज उनकी ऐसी जीवन-धारा से बिगड़े (और निश्चयपूर्वक ऐसा ही होगा) तो वे इस बिगाड़ को इस बात का नया प्रमाण मानेंगे कि उनसे वैयक्तिक रूप में दुर्व्यवहार हो रहा है। यही कारण है कि उन्हें दिये गए दण्ड का भी कुछ प्रभाव नहीं होता। इससे तो उनकी यही सम्मति पक्की होती है कि 'दूसरे लोग मेरे विरुद्ध हैं।' परन्तु चाहे बिगड़ा बच्चा असहयोग

करे या खुल्लमखुल्ला विरोध पर उतर आए, चाहे वह कमज़ोरी से दूसरों पर हावी होना चाहे अथवा बलपूर्वक दूसरों से बदला लेने का यत्न करे, वह एक-सी ही भूल कर रहा होता है। हमें ऐसे लोग मिलते हैं जो अलग-अलग अवसरों पर इन दोनों तरीकों को बरतते हैं। उनके उद्देश्य में कोई भेद नहीं पड़ता। उनके अनुसार "ज़िन्दगी का अर्थ है—सबसे आगे होना, यह मान लिया जाना कि मैं ही सर्वोपरि और आवश्यक हूँ, जो कुछ भी मैं चाहूँ मुझे मिले।" और जब तक वे जीवन का यही अर्थ समझते रहते हैं तब तक समस्याओं के प्रस्तुत होने पर उन्हें सुलझाने के प्रत्येक प्रयत्न में अवश्य भूल रहती है।

एक तीसरी परिस्थिति भी है जिसमें भूल की जा सकती है—यह परिस्थिति उस बच्चे की है जिसकी उपेक्षा की गई हो। ऐसे बच्चे को तो प्यार और सहयोग से परिचय ही नहीं हुआ, वह जीवन की जो व्याख्या बना लेता है उसमें इन सद्भावनाओं को कोई स्थान नहीं मिलता। देखा जायगा कि जब जीवन की समस्याएँ उसके सामने आएँगी तो वह उनकी कठिनाइयों को गुरुतर समझेगा और दूसरों की सहायता और सद्भावना से उनका मुकाबला करने की अपनी क्षमता को हीनतर समझेगा। उसने व्यवहार में समाज से शीतलता ही पाई है और समाज से सदा इसी शीतलता की अपेक्षा करता रहेगा। विशेषतया वह यह जान लेने में असमर्थ रहेगा कि दूसरों के लिए उपयोगी काम-काज करके वह उनके प्यार और आदर को जीत सकता है।

इस तरह दूसरों को वह सन्दिग्ध दृष्टि से ही देखता रहेगा और अपने पर भी विश्वास नहीं कर सकेगा। वास्तव में ऐसा कोई भी दूसरा अनुभव नहीं है जो निःस्वार्थ प्यार की जगह ले सके। माता का सर्वप्रथम कर्त्तव्य यही होता है कि वह अपने बच्चे को एक विश्वसनीय निजेतर व्यक्ति का अनुभव दे, तदुपरान्त इस विश्वास की भावना को उसे तब तक बढ़ाना और फैलाना है जब तक कि वह बच्चे की सीमा के शेष वातावरण को नहीं घेर लेती। यदि वह अपने पहले प्रयत्न में असफल रही है, अर्थात् वह बच्चे का ध्यान, प्यार और सहयोग नहीं पा सकी तो बच्चे के लिए सामाजिक दृष्टिकोण का विकास और अपने साथियों के प्रति सामीप्य के भाव पैदा करना कठिन हो जायगा। यह शक्ति तो प्रत्येक में होती है कि वह दूसरों में दिलचस्पी पैदा कर सके, परन्तु इस शक्ति का विकास शिक्षा और अभ्यास से ही होता है।

यदि किसी ऐसे बच्चे का उदाहरण मिले जिसकी कोरी उपेक्षा ही की गई हो और घृणा का ही व्यवहार किया गया हो अथवा जिसे अनावश्यक समझा जाता रहा हो, तो हम पाएँगे कि सहयोग की सम्भावना से ही वह अनभिज्ञ होगा, दूसरों तक अपने विचार पहुँचाने में असमर्थ होगा और उसे किसी भी ऐसी बात का ज्ञान नहीं होगा जो दूसरे मनुष्यों के साथ मिलकर जीने में उसकी सहायक हो सके। परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, इन परिस्थितियों

में व्यक्ति जी ही नहीं सकता। यह सत्य कि बच्चे ने शैशवकाल बिता दिया है इस बात का सूचक है कि उसका ध्यान किया गया है और उसे सहायता मिली है। इसलिए हमें निरी उपेक्षा मिले बच्चों से कभी पाला नहीं पड़ता। हम ऐसे उदाहरणों से व्यवहार करते हैं जिन्हें साधारण से कम ध्यान और प्यार मिला है, अथवा जिनकी कुछ मामलों में उपेक्षा की गई है, शेष में नहीं। संक्षेप में हम ऐसा कह सकते हैं कि उपेक्षित बच्चा वह होता है जो विश्वसनीय निजेतर व्यक्ति को नहीं पा सका। हमारी सभ्यता की यह दुर्भाग्यमय समालोचना है कि जीवन की अधिकतर विफलताएँ अनाथ अथवा वर्णसंकर बच्चों में से आती हैं और हमें इन बच्चों को प्रायः उपेक्षित बच्चों में ही गिनना पड़ता है।

ये तीनों परिस्थितियाँ—विकृत अंग, लाड-प्यार और उपेक्षा—ज़िन्दगी के गलत अर्थ लगाने में बड़ी चुनौतियाँ हैं। इन परिस्थितियों के बच्चों को जीवन की समस्याओं के प्रति अपने दृष्टिकोण को दुहराने में प्रायः सदा ही सहायता की ज़रूरत पड़ती है। बेहतर अर्थ लगाने में उनको सहायता मिलनी आवश्यक है। यदि हम इन बातों पर ध्यान देने के आदी हैं—जिसका अर्थ है कि हमें उनमें सच्ची दिलचस्पी है और इस दिशा में हमने अपने को शिक्षित किया है—तो उनके हर व्यवहार में हम उन द्वारा लगाये गए अर्थ को प्रतिबिम्बित पाएँगे। स्वप्न और प्रसंग भी सहायक सिद्ध हो सकते हैं। स्वप्नों की

दुनिया में भी वही व्यक्तित्व रहता है जो यथार्थ दुनिया में, परन्तु सपनों में सामाजिक आवश्यकताओं का दबाव कम हुआ करता है और बिना अधिक आवरण और आडम्बर के व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाता है। लेकिन एक व्यक्ति जीवन का और अपना क्या अर्थ लगाता है यह जानने के लिए सबसे अधिक सहायता तो हमें उसके संस्मरणों से मिलती है। हरेक संस्मरण, चाहे वह उसे कितना ही अर्थहीन क्यों न समझता हो, उसे किसी ऐसी बात की याद दिलाता रहता है जिसे वह स्मरणीय समझता है। जीवन का जो चित्र उसने बनाया है उससे सम्बन्धित होने के कारण ही वह उसे याद रखने योग्य समझता है। यह बात उसे याद दिलाती रहती है–'इसी की तुम्हें आशा करनी चाहिए', अथवा 'इसी से तुम्हें बचना चाहिए', अथवा 'जीवन ऐसा है।' हम इस बात को दुहरा दें कि वह अनुभव अपने ही में महत्त्वपूर्ण नहीं है, वरन् महत्त्वपूर्ण यह बात है कि केवल वही अनुभव संस्मरणों में टिका रह गया है और इसका उपयोग जीवन को दिये गए अर्थों को स्पष्ट करने के लिए हो रहा है। प्रत्येक संस्मरण महत्त्वपूर्ण होता है।

यह दरसाने के लिए कि किसी व्यक्ति का जीवन के प्रति खास दृष्टिकोण कितने काल से है और उन परिस्थितियों को जानने के लिए, जिनमें दृष्टिकोण का निर्माण हुआ था, बाल्यावस्था के संस्मरण विशेषतया उपयोगी होते हैं। दो कारणों से सबसे पुराने संस्मरण का अपना ही महत्त्व होता है। पहले तो

व्यक्ति का अपना और अपनी परिस्थिति का मूल्य-निरूपण उसमें निहित रहता है; दुनियावी चीजों के पहले परिचय का इसमें हिसाब रहता है; उससे जो-जो माँगें की गईं उनका और उसके अपने सच्चे रूप का यह पूर्ण प्रतीक होता है। दूसरे, यह उसके लिए आगे बढ़ने का पहला कदम बन जाता है; जो आत्म-कथा उसने अपने लिए बना ली है उसका आरम्भ यहीं से होता है। इसलिए हम प्रायः इसमें निर्बलता और अपर्याप्तता की उस स्थिति का, जिसमें वह अनुभव करता है कि वह था, और बल तथा सुरक्षा के उस उद्देश्य का, जिसे उसने अपना आदर्श बना रखा था, भेद पा सकते हैं। मनोविज्ञान के दृष्टि-कोण से इस बात का महत्त्व नहीं है कि जिस संस्मरण को कोई व्यक्ति पहला संस्मरण समझता है, वही अनुभव पहला था जिसे कि वह याद रख सका था, अथवा क्या वह संस्मरण किसी सच्ची घटना का संस्मरण है भी या नहीं। संस्मरणों का महत्त्व तो जैसे 'उन्हें समझा जाता है' उसी से है—उनकी व्याख्याओं के लिए, और वर्तमान और भविष्य के जीवन पर उनके प्रभाव के कारण।

यहाँ हम कुछ पहले संस्मरणों के उदाहरण ले लें और जो 'जीवन के अर्थ' उन्होंने लगा लिए हैं उन्हें देखें। "चाय का बर्तन छिटककर मेज से गिरा और मैं जल गई।" ऐसा है जीवन! हमें यह जानकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि जिस लड़की की आत्म-कथा इस तरह आरम्भ हुई वह असहायता के विचारों

से सदा घिरी रही और जीवन के खतरों और कठिनाइयों को अधिक महत्त्व देती रही। हमें यह जानने पर भी हैरानी नहीं होनी चाहिए कि अपने दिल में वह दूसरे लोगों को, अपना अधिक ध्यान न करने का आक्षेप लगाकर, कोसती रही हो। कोई व्यक्ति इतने छोटे बच्चे को ऐसे खतरों के आगे अरक्षित छोड देने में इतना असावधान रहा है। दुनिया का ऐसा ही चित्र किसी दूसरे के पहले संस्मरण में इन शब्दों में खींचा गया है—"मुझे याद है कि जब मैं तीन साल का था, मैं बच्चा गाड़ी से बाहर गिर गया था।" इस पहले संस्मरण के साथ-साथ एक स्वप्न की भी उसे याद थी—"दुनिया की समाप्ति हो रही है और आधी रात के समय मैं जागकर देखता हूँ कि आकाश आग के कारण लाल हो रहा है। तारे गिर रहे हैं और हमारी किसी दूसरे नक्षत्र से टक्कर हो रही है। परन्तु उस टक्कर से कुछ ही पहले मेरी नींद खुल गई।" यह पूछे जाने पर कि उसे किसी का भय रहता है या नहीं, इस विद्यार्थी ने कहा—"मुझे यही भय रहता है कि कहीं मैं जीवन में असफल न रह जाऊँ।" और यह स्पष्ट है कि उसका पहला संस्मरण और तत्कालीन स्वप्न उसके लिए निरुत्साहक सिद्ध होते हैं और विफलता और विनाश के उसके भय की पुष्टि करते हैं।

एक बारह वर्ष का लड़का बेबस मूत्र निकल जाने के रोग और अपनी माँ से सतत झगड़े की वजह से मेरे अस्पताल में लाया गया, उसने अपना पहला संस्मरण इस तरह बताया—

"माँ ने समझा कि मैं खो गया हूँ, और वह मेरा नाम पुकारती हुई, डरी हुई, बेतहाशा बाज़ार को भागी। मैं उस वक्त घर में ही एक आलमारी के पीछे छिपा हुआ था।" इस संस्मरण में हम जीवन का यह अनुमान पढ़ सकते हैं—"जीवन का अर्थ है, दूसरों को कष्ट देकर अपनी ओर उनका ध्यान खींचना। अपने को सुरक्षित करने की राह धोखे में से होकर गुज़रती है। मेरी उपेक्षा की जाती है, परन्तु मैं दूसरों को बेवक़ूफ़ बना सकता हूँ।" मूत्र-प्रवाह पर बेबसी का उसका रोग भी अपने को दूसरों की चिन्ता और ध्यान का केन्द्र बनाए रखने के लिए उचित साधन था। जो ज़िन्दगी का अर्थ उसने बनाया था उसकी सम्पुष्टि उसकी माँ के उसके प्रति चिन्ता और अस्थिरता के व्यवहार से हो जाती थी। पिछले उदाहरणों की तरह, इस लड़के ने छोटी अवस्था में ही यह समझ लिया था कि बाहरी दुनिया में जीवन ख़तरों से भरा पड़ा है और उसने यह निष्कर्ष निकाला था कि वह सुरक्षित तभी रह सकता है जब दूसरे लोग उसकी ओर से ख़तरों का मुकाबला करने को तैयार हों। केवल इसी तरह वह अपने को आश्वासन दे सकता था कि जरूरत पड़ने पर उसकी रक्षा करने को दूसरे लोग तैयार हैं।

३५ वर्ष की एक स्त्री ने अपना पहला संस्मरण इस तरह बताया—"जब मैं तीन वर्ष की थी, मैं घर के नीचे के तहखाने में गई। जब अँधेरे में मैं सीढ़ियों पर ही थी, मेरे एक निकट के सम्बन्धी ने, जो मुझसे कुछ ही बड़ा था, दरवाजा खोला और

मेरे पीछे नीचे आ गया। मैं उससे बड़ी डरी।" इस स्मृति से यह सम्भव जान पड़ता है कि दूसरे बच्चों से खेलने का उसे अवसर नहीं मिलता था और विशेषतः लड़कों से मिलने-जुलने में उसे बड़ी झिझक थी। एक यह अनुमान कि वह अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान थी, सत्य निकला और अब भी पैंतीस वर्ष की आयु में वह अविवाहिता थी।

सामाजिक भावना का अधिक विकास इस स्मृति से जान पड़ेगा—"मुझे याद है कि मेरी माता ने मुझे अपनी छोटी बहन को गाड़ी में बिठाकर घुमाने की इजाज़त दी।" इस उदाहरण से अपने से निर्बल व्यक्तियों के साथ ही खेलने-खुलने की प्रवृत्ति के लक्षण भी हम पा सकते हैं और शायद माता के ऊपर आश्रय के भी। सबसे अच्छी बात यही है कि जब नये बच्चे का जन्म हो तो उसका ध्यान रखने में बड़े बच्चों की सहायता ली जाय, उनकी नवागन्तुक में दिलचस्पी पैदा की जाय और उसके भले-बुरे के उत्तरदायित्व का हिस्सा उन्हें भी मिले। यदि उनका सहयोग मिल जाय तो उन्हें उस ध्यान के विषय में, जोकि नये बच्चे को दिया जा रहा है, इस तरह सोचने का आकर्षण न होगा कि उनके अपने महत्त्व में कमी हो रही है।

सदा इस बात की इच्छा कि कोई-न-कोई साथ रहे, दूसरों में सच्ची दिलचस्पी का द्योतक नहीं है। एक लड़की ने, जब उससे उसका पहला संस्मरण पूछा गया, तो उत्तर दिया—"मैं अपनी बड़ी बहन और दो सहेलियों के साथ खेल रही थी।" यहाँ

इस बात का उदाहरण जरूर है कि बच्चे को सामाजिक होने की शिक्षा मिल रही है, परन्तु उसके प्रयत्नों पर एक नया प्रकाश तब पड़ता है जब वह अपना सबसे बड़ा डर यह बताती है कि "मुझे अकेले छोड़ दिये जाने का डर बना रहता है।" तदर्थ हमें उसकी स्वतन्त्रता की कमी के लक्षण भी ढूँढने पड़ेंगे ।

यदि एक बार जीवन को दिये गए अर्थ समझ-बूझ लिये जायँ तो हमें समूचे व्यक्तित्व की कुञ्जी मिल जाती है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि मानव-चरित्र बदला नहीं करता, परन्तु यह दृष्टिकोण केवल उनके लिए ही है जो स्थिति की ठीक कुञ्जी पा नहीं सके। जैसा कि हम देख चुके हैं—कोई तर्क अथवा उपचार तब तक सफल नहीं रह सकता जब तक कि भौतिक भूल पहचान न ली गई हो, और उन्नति की एक सम्भावना केवल इसी बात में है कि जीवन के प्रति रवैये को अधिक सहयोगमय और साहस-पूर्ण बनाया जाय। नस-सम्बन्धी तनाव की प्रवृत्ति बढ़ने के विरुद्ध हमारे पास एक संरक्षण सहयोग का ही है। इसलिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है कि बच्चों को सहयोग की ओर प्रोत्साहन और शिक्षा दी जाय; अपनी आयु के बच्चों में सांझे कर्त्तव्यों और सांझे खेलों में उन्हें स्वतन्त्रता से भाग लेने दिया जाय। सहयोग में जरा भी अवरोध के परिणाम गम्भीर होंगे। उदाहरणस्वरूप ऐसा बच्चा, जिसे केवल अपने में ही दिलचस्पी लेने की शिक्षा मिली है, दूसरों में दिलचस्पी न लेने की आदत को अपने साथ स्कूल में भी ले जायगा। पढ़ाये गए पाठों में वह उसी सीमा तक

दिलचस्पी लेगा जहाँ तक कि वह समझेगा कि अध्यापक की कृपा-दृष्टि जीतने के लिए वह सहायक होगी; वह उसी बात को ध्यान से सुनेगा जिसे वह अपने लिए लाभदायक समझेगा। जैसे-जैसे वह बड़ा होगा, सामाजिक भावना में उसकी विफलता प्रत्यक्षतः विनाशकारी दीखने लगेगी। जब पहले-पहल उससे यह भूल हुई थी, उसने उत्तरदायित्व और स्वतन्त्रता के लिए अपने को तैयार करना बन्द कर दिया था, और अब जीवन की उलझनों का मुकाबला करने के लिए उसकी तैयारी दुर्भाग्यवश बड़ी ही कमजोर है।

अब हम उसकी कमियों के लिए उसे बुरा-भला नहीं कह सकते, जब उन कमियों के परिणामों का अनुभव उसे हो तो उनका उपचार करने के लिए उसकी सहायता ही कर सकते हैं। जिस बच्चे ने भूगोल पढ़ा ही नहीं है, उससे हम यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि वह इस विषय की परीक्षा में सफल हो सकेगा और जिस बच्चे को सहयोग की शिक्षा कभी मिली नहीं उससे हम यह आशा नहीं कर सकते कि जब ऐसे कर्त्तव्य प्रस्तुत हों, जहाँ कि सहयोग की शिक्षा आवश्यक है, तो वही ठक-ठीक उत्तर दे सके। परन्तु जीवन की हर समस्या को सुलझाने के लिए दूसरों का सहयोग करने की शक्यता आवश्यक होती है। हरेक समस्या को मानव-समाज की चौखट के अन्दर ही करना होता है और इस तरह कि मानव की प्रगति को उन्नति मिले। केवल वही व्यक्ति, जो यह समझता है कि जीवन का अर्थ 'प्रदान'

है, अपनी कठिनाइयों का साहस और सफलता की सम्भावना से मुकाबला कर सकेगा।

जीवन को अर्थ देने में जो-जो भूलें हो सकती हैं, यदि अध्यापक, माता-पिता अथवा मनोवैज्ञानिक उन्हें समझें और यदि उन भूलों को वे खुद भी न करते हों, तो हम इस बात का विश्वास कर सकते हैं कि जिन बच्चों में सामाजिक दिलचस्पी नहीं रही है वे अपनी समर्थता और जीवन के सुअवसरों के प्रति बेहतर भाव बना सकेंगे। जब उलझनों से उनकी मुठभेड़ होगी, वे अपने प्रयत्नों को बन्द नहीं कर देंगे, दिक्कत से बचने के सरल साधन खोजने नहीं लगेंगे, दूसरों पर बोझा डालकर आप बच निकलना नहीं चाहेंगे, अपने से कोमल व्यवहार और विशेष सहानुभूति की याचना नहीं करेंगे, खुद को अपमानित समझकर बदला नहीं लेना चाहेंगे और न यह ही पूछेंगे—"जीवन का क्या लाभ है? मुझे इससे मिल क्या रहा है?" वे कहेंगे—"हमें अपने जीवन का निर्माण करना है। यह हमारा अपना कर्त्तव्य है और हम इसको सुलझाने में समर्थ हैं। हम अपने व्यवहार के स्वयं स्वामी हैं। यदि कुछ नया काम करना है या किसी पुराने ढंग को बदलना है तो हमारे सिवा कोई दूसरा यह नहीं करेगा।" यदि जीवन तक इस ढंग से पहुँचा जाय—स्वतन्त्र मनुष्यों में सहयोग के ढंग से—तो मानव-समाज की उन्नति की सीमा का हम अनुमान भी नहीं लगा सकेंगे।

: २ :

मन और शरीर

मनुष्यों में सदा ही इस प्रश्न पर विचार-संघर्ष होता रहा है कि क्या मन का शरीर पर प्रभुत्व है अथवा शरीर का मन पर। इस बहस में दार्शनिकों ने भी हिस्सा लिया है और वे एक या दूसरे पक्ष का समर्थन करते रहे हैं। इनमें से कुछ अपने को आदर्शवादी कहते थे और कुछ भौतिकवादी। हजारों की संख्याओं में उन्होंने तर्क पेश किये, लेकिन प्रश्न पहले की तरह ही उलझा हुआ और अनिश्चित रहा है। इसे सुलझाने में शायद वैयक्तिक मनोविज्ञान कुछ सहायता दे सके, क्योंकि वास्तव में वैयक्तिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में हमें मन और शरीर की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से जूझना पड़ता है। मन अथवा शरीर, इनमें से किसी का उपचार आवश्यक होता है और यदि हमारा निदान गलत हुआ तो हम सहायक होने में असफल होंगे। अनुभवों पर ही हमें सिद्धान्त की नींव रखनी होगी और वास्तविकता की परीक्षा में इसे उत्तीर्ण होना ही होगा। हम क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं की इस दुनिया में रह रहे हैं और ठीक दृष्टिकोण को खोजने की चुनौती सबसे अधिक हमारे ही ऊपर है।

वैयक्तिक मनोविज्ञान जिन नतीजों पर पहुँचा है उनसे

इस प्रश्न का खिंचाव बड़ी हद तक मिट गया है। अब इसमें विशेष दुविधा नहीं रह गई है। हमने देखा है कि मन और शरीर दोनों में ही जीवन की अभिव्यक्ति है, दोनों ही सम्पूर्ण जीवन के अंश हैं। इस सम्पूर्ण में उनके पारस्परिक सम्बन्ध का हम परिचय पाने लगते हैं। मनुष्य की ज़िन्दगी एक गतिमान सत्ता की ज़िन्दगी है और केवल शरीर का ही विकास उसके लिए पर्याप्त नहीं। एक पौधे की जड़ ज़मीन में ही रहती है, उसे एक ही स्थान पर रहना है, हिलना-डुलना नहीं है। इस दशा में यह अनुसन्धान करना कि पौधों में भी मन होता है—ऐसा मन जिसका कि अपनी अनुभूतियों से हम अनुमान लगा सकें—एक आश्चर्यप्रद बात होगी। यदि एक पौधा परिणामों को पहले ही जान सके या उन पर प्रभाव डाल सके, तो भी यह शक्ति उसके लिए निरर्थक है। पौधे को यह सोचने से क्या लाभ है कि 'कोई आ रहा है। एक क्षण में वह मुझे पाँव तले रौंद देगा और मेरी यह लीला समाप्त हो जायगी।' इस तरह सोचने के बाद भी पौधा रास्ते में से हट नहीं सकेगा।

सब घूम-फिर सकने वाले प्राणी इस ढंग से आगे की बात देख-भाल सकते हैं कि किस दिशा में उन्हें बढ़ाना है। यह सत्य इस बात का अनुमान लगाने के लिए आवश्यक है कि उनमें मन अथवा आत्मा है।

"विचार-शक्ति, निश्चय से, तुममें है अथवा तुममें गति नहीं होती।" (हैमलेट—अङ्क ३, दृश्य ४)

गति की दिशा को पहले ही भाँप लेना मन की केन्द्रीय शक्ति है। जैसे ही हम इस बात को समझ लेते हैं, हम इस बात को जान लेने की परिस्थिति में हो जाते हैं कि किस तरह, प्रत्येक गति का उद्देश्य स्थिर करके, मन शरीर पर राज्य करता है। हर समय किसी भी निरर्थक गति की नकल करते रहना पर्याप्त नहीं है। हर प्रयत्न का कुछ उद्देश्य होना चाहिए। क्योंकि यह मन का ही कर्त्तव्य है कि गति-धारा की दिशा को निश्चित करे, जीवन में मन का प्रभावयुक्त स्थान रहता है। साथ-ही-साथ शरीर भी मन पर प्रभाव डालता रहता है, क्योंकि आखिर तो शरीर ने ही गति करनी है। मन तो वहीं तक शरीर में गति ला सकता है जहाँ तक कि वह समर्थ है, अथवा जिन गतियों के अभ्यास की उसे शिक्षा दी जा सकती है। उदाहरण के लिए यदि मन चाहे कि शरीर को चन्द्रमा तक ले जाया जाय तो वह तब तक विफल रहेगा जब तक कि वह पहले ऐसे साधन नहीं ढूँढ लेगा जोकि शरीर की बँधी सीमाओं में ही काम दे सकें।

शेष सब प्राणियों से मनुष्य ही अधिक गतिशील रहते हैं। यही नहीं कि वे अधिक तरीकों से हिलते-डुलते हों—जैसी गति कि उनके हाथों से विदित होती है—परन्तु उनमें यह सामर्थ्य भी है कि अपनी गति से वे अपने वातावरण में भी गति ले आएँ। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य के मन की दूरदर्शिता की दृष्टि अधिक विकसित हुआ करती है। इस बात की स्पष्ट

साक्षी मनुष्य के उन प्रयत्नों में मिलेगी जो वे अपनी सम्पूर्ण परिस्थिति में अपनी सम्पूर्ण स्थिति को सुधारने के लिए किया करते हैं।

इसके अतिरिक्त सभी मनुष्यों की आंशिक उद्देश्यों के लिए की गई आंशिक हलचलों में हम एक गति अवश्य पाएँगे। हमारा सभी प्रयत्न उसी स्थान पर पहुँचने के लिए निर्दिष्ट होता है जहाँ कि सुरक्षा की भावना मिल सके—एक ऐसी भावना कि जीवन की कठिनाइयों से पार पाया जा चुका है और अब हम निष्कंटक राह पर हैं; अपने सारे वातावरण से हम सुरक्षित और विजयी हैं। इस उद्देश्य को सामने रखने से सब गतियों और अभिव्यक्तियों में अवश्य ही एकता आ जाती है। मन इस रूप में विकसित होने के लिए मजबूर हो जाता है जैसे कि अन्तिम आदर्श पर पहुँचने का उद्यम करना हो। शरीर भी इस-से विपरीत नहीं रहता, उसे भी इसी ऐक्य में मिल जाने की कोशिश रहती है। यह भी उस आदर्श ध्येय की ओर बढ़ने के लिए विकास करता है जिसका कि अनुमान उसमें बीज रूप में आरम्भ से ही विद्यमान होता है। उदाहरण के लिए, यदि त्वचा फट जाय तो सारा शरीर फिर से अपने को सम्पूर्ण करने के प्रयत्नों में जुट जाता है। लेकिन शरीर को अपनी सामर्थ्यों को पा लेने का यत्न नहीं करना पड़ता; इस विकास में मन उसकी सहायता करता है। कसरत, शिक्षा और साफ-सुथरे रहने की आवश्यकता सिद्ध हो चुकी है और सब शरीर के अन्तिम

ध्येय तक पहुँचने के प्रयत्न में मन द्वारा दी गई सहायताएँ ही हैं।

जीवन के आरम्भ के दिनों से बिना रोक-टोक, अन्त तक विकास और वृद्धि का यह सांझीपन जारी रहता है। एक सम्पूर्ण वस्तु के अभिन्न अंशों की तरह शरीर और मन सहयोग करते रहते हैं। मन एक यन्त्र की तरह काम करता रहता है जो शरीर की सब सामर्थ्यों का पता लगाकर उसे आगे खींचता है, सब कठिनाइयों में शरीर को सुरक्षा और उच्चता की स्थिति पर लाने में सहायता देता है। शरीर की हर गति में, प्रत्येक अभि-व्यक्ति और लक्षण में, हम मन के उद्देश्य की छाप देख सकते हैं। एक मनुष्य चलता है, उसकी चाल में भी कोई अर्थ है। वह अपनी आँखों, जीभ या मुख के पट्ठों में हरकत करता है। उसके मुख से एक विशिष्ट भाव स्पष्ट होता है—एक अभिप्राय जाना जा सकता है। यह अभिप्राय तो मन द्वारा प्रेरित है। अब हम जान सकते हैं कि मनोविज्ञान, मन के विश्लेषक शास्त्र, के क्या अर्थ हैं। मनोविज्ञान का प्रयत्न होता है—एक व्यक्ति की सब अभि-व्यक्तियों के अर्थों की थाह ले, उसके उद्देश्य का परिचय पाए और दूसरों के उद्देश्यों से उसकी तुलना करे।

सुरक्षा के अन्तिम ध्येय तक पहुँचने के प्रयत्नों में मन को सदा ही इस जरूरत का सामना करना पड़ता है कि वह उद्देश्य को ठोस बनाए, यह हिसाब लगाए कि सुरक्षा किस विशेष बात में है और किस विशेष दिशा में जाने से वहाँ पहुँचा जा सकता है। और यहाँ ही गलती होना सम्भव है। परन्तु एक निश्चित

उद्देश्य और गति-दिशा के स्थिर हुए बिना कोई हरकत सम्भव ही नहीं है। यदि मैं अपना बायाँ हाथ उठाता हूँ तो पहले से ही मेरे मन में इस गति का कोई-न-कोई उद्देश्य होना आवश्यक है। मन ने जो दिशा चुनी है, हो सकता है कि वास्तव में वह विनाशकारी हो; परन्तु इसे इसलिए चुना गया है क्योंकि गलती से मन ने इसे ही अतीव लाभदायक माना है। इस तरह सभी मनोवैज्ञानिक गलतियाँ गति की गलत दिशा के चुनाव में ही होती हैं। सुरक्षा का उद्देश्य मानव-मात्र का एक समान है, परन्तु कुछ मनुष्य उस राह से भटक जाते हैं जिधर सुरक्षा मिल सकती है, उनकी प्रत्यक्ष गति उन्हें गुमराह कर देती है।

यदि हमारा सामना ऐसे लक्षण अथवा अभिव्यक्ति से हो जिसका अभिप्राय जानने में हम असमर्थ रहें, तो उसे समझाने का सुगम-तरीका यह है कि पहले उस लक्षण अथवा अभिव्यक्ति को केवल एक गति की रूपरेखा में घटा लें। उदाहरण के लिए हम चोरी के लक्षण को लें। चोरी का अर्थ है—किसी दूसरे की सम्पत्ति को अपने पास ले लेना। इस गति के उद्देश्य पर हम विचार करें। उद्देश्य है—अपने को धनी बनाना और अधिक सम्पत्ति हथियाकर अपने को अधिक सुरक्षित अनुभव करना। इस तरह जिस बिन्दु से यह गति आरम्भ होती है वह गरीब और पीडित होने का भय है। अब अगला कदम यह जानने में है कि उस व्यक्ति की परिस्थितियाँ क्या हैं और किन कारणों से वह अपने को पीड़ित समझता है। अन्त में हम देख सकते हैं

कि उन परिस्थितियों को बदलने के लिए और पीड़ित होने के विचार पर विजय पाने के लिए क्या वह ठीक राह अपना रहा है, क्या गति ठीक दिशा की ओर है, या क्या जो वह चाहता है उसे पाने के लिए उसकी कोशिशें ठीक हैं। उसके अन्तिम उद्देश्य की टीका हमें नहीं करनी है, परन्तु हम यह अवश्य जता सकते हैं कि अपने उद्देश्य तक पहुँचने के लिए उसने गलत राह अपनाई है।

मनुष्य जाति ने अपने वातावरण में जो परिवर्तन कर लिये हैं उन्हें हम अपनी संस्कृति के नाम से पुकारते हैं। हमारी संस्कृति शरीर के लिए मनुष्य-मात्र के मनों द्वारा सम्पन्न सब आन्दोलनों का परिणाम हुआ करती है। हमारी क्रियाओं को मन से ही प्रेरणा मिलती है। हमारे शरीरों का विकास मन द्वारा ही निर्दिष्ट है और मन द्वारा ही इसे सहायता मिलती है। आखिर में हम मनुष्य की कोई भी ऐसी अभिव्यक्ति न पा सकेंगे जिसमें मन के ध्येय की छाप न लगी हो। लेकिन यह किसी भी रूप में वाञ्छनीय नहीं है कि मन अपनी उपादेयता से बढ़-चढ़-कर अपना महत्त्व समझने लगे। यदि हम अपनी कठिनाइयों पर पार पाना चाहते हैं तो शारीरिक सम्यगता आवश्यक है। इसलिए मन वातावरण पर इस तरह राज्य करने की कोशिश करता है जिससे कि शरीर की रक्षा हो सके—वह बीमारी और मौत से, चोट, दुर्घटना और इन्द्रियों की निष्क्रियता से बच सके। हमारे दुःख और सुख अनुभव करने की शक्यता का; कल्पनाओं

का और भली या बुरी परिस्थितियों से सामञ्जस्य समझने का यही अभिप्राय होता है। ऐसी भावनाएँ किसी विशिष्ट परिस्थिति में एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया के लिए शरीर को उद्यत करती हैं। कल्पना और सामञ्जस्य का तरीका दूरदृष्टि का तरीका है। पर इनका अभिप्राय इससे कुछ अधिक भी होता है। वे ऐसी भावनाओं को आन्दोलित कर देते हैं जिनके अनुसार शरीर क्रिया करता है। इसी तरह किसी भी व्यक्ति की भावना जीवन के उस अर्थ की, जिसे उसने अपनाया है, और उसने अपने प्रयत्नों का जो ध्येय बनाया है उसकी छाप लिये होती है। हालाँकि काफ़ी हद तक यही भावना उसके शरीर पर हावी होती है, वह स्वयं शरीर पर आश्रित नहीं होती। मुख्यतः वह उसके ध्येय पर और उसके परिणामस्वरूप जो जीवन-प्रणाली उसने रची है उसी पर, आश्रित रहती है।

प्रत्यक्ष है कि केवल जीवन-प्रणाली का ही व्यक्ति पर प्रभुत्व नहीं होता। उसका दृष्टिकोण बिना अन्य सहायता के बाह्य लक्षण पैदा नहीं कर सकता। क्रियात्मक होने के लिए आवश्यक है कि उसकी पुष्टि भावों द्वारा हो। वैयक्तिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में जो बात नई है वह यही विचार है कि भावनाओं का जीवन-प्रणाली से कभी विरोधाभास नहीं होता। जहाँ जो भी ध्येय हो, भाव उसी की प्राप्ति में रत हो जाते हैं। अतः हम शरीर-विज्ञान अथवा जन्तु-शास्त्र के क्षेत्र में नहीं रह जाते। भावों के उदय की व्याख्या किसी रासायनिक सिद्धान्त के अनुसार नहीं हो सकती, और

न उनके विषय में भविष्यवाणी रासायनिक परीक्षाओं से सम्भव है। वैयक्तिक मनोविज्ञान में हमें शारीरिक व्यापार (फ़िज़ियोलॉजिकल प्रॉसैस) पहले ही मान लेना पड़ता है, लेकिन हमारी अधिक रुचि तो मनोवैज्ञानिक ध्येय की ओर ही है। इस बात से हमें मतलब नहीं है कि चिन्ता करने से कुछ अनुकम्पित या सपिंगल नाड़ी-मण्डल (सिंपथैटिक ऑर पैरा-सिंपथैटिक नर्व्स) विशेष प्रभावित हो जाते हैं। हमें तो यही देखना है कि चिन्ता का उद्देश्य और अन्त क्या है।

इस दृष्टिकोण से चिन्ता को दबी हुई कामुकता से उत्पन्न हुआ नहीं समझा जा सकता, न यह ही कहा जा सकता है कि जन्म के दुःखदायी अनुभवों का वह शेष परिणाम होती है। ये व्याख्याएँ सचाई तक नहीं पहुँचतीं। हम जानते हैं कि एक बच्चे को, जिसे सतत अपनी माता के साथ की, सहायता और आश्वासन की आदत पड़ चुकी हो, चिन्ता (चाहे इसका कारण कुछ भी हो) अपनी माता को वश में रखने के लिए, बहुत उपयोगी साधन सिद्ध होती है। क्रोध की स्थूल, शारीरिक व्याख्या से हमें सन्तोष नहीं होता; हमारा अनुभव बताता है कि क्रोध एक ऐसा ढंग है जिसे किसी व्यक्ति अथवा स्थिति पर काबू करने के लिए बरता जाता है। हम इसे स्वीकार कर लेते हैं कि प्रत्येक शारीरिक और मानसिक अभिव्यक्ति जन्म-जात स्वभाव पर आश्रित होती है, परन्तु हमें तो यह देखना है कि इस स्वभाव का एक निश्चित ध्येय तक पहुँचने के लिए किस तरह उपयोग

हो रहा है। जान पड़ता है कि केवल यह ही ठीक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है।

हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में भावों का उदय और विकास उसी दिशा में और उसी मात्रा में हुआ है जो उसके ध्येय तक पहुँचने के लिए आवश्यक थे। उसकी चिन्ता अथवा साहस, खुशी अथवा उदासी, उसकी जीवन-प्रणाली से सदा मेल खाती रही है, इन सबकी आनुपातिक दृढ़ता और प्रभुत्व वही रहा है जिसकी कि हम आशा कर सकते थे। एक मनुष्य, जो अपने बड़प्पन के ध्येय को उदासी से पूरा कर सकता है, वह कभी खुश रहकर संतुष्ट नहीं हो सकता। वह तो तभी संतुष्ट हो सकेगा जबकि वह दुःखी होगा। हम यह भी पाएँगे कि आवश्यकतानुसार भावनाओं का उदय या लोप होता रहता है। खुली जगह के भय (एगोराफोबिया) से पीड़ित एक रोगी में अपने घर में होने पर या जब वह किसी व्यक्ति पर हावी हो, चिन्ता की भावना नहीं रह जाती। सब तन्तु-रोगी जीवन के हर उस अंश का त्याग कर देते हैं जिसमें कि वे अनुभव करते हैं कि विजयी होने के लिए उनमें पर्याप्त शक्ति नहीं है।

जिस तरह जीवन-धारा निश्चित और स्थिर होती है उसी तरह भाव-धारा भी निश्चित और स्थिर होती है। उदाहरण के लिए कायर सदा कायर ही रहता है चाहे वह कमजोर लोगों के सामने उद्दण्ड ही क्यों न हो, और दूसरों से सुरक्षित होने की स्थिति में साहसी ही क्यों न जान पड़े। हो सकता है कि

वह दरवाजों पर तीन-तीन ताले लगाए, अपनी रक्षा के लिए शिकारी कुत्तों को भी पाले और कहे कि मैं तो साहसी हूँ। उसके चरित्र की कायरता इस बात से काफ़ी हद तक प्रकट हो जाती है कि अपनी रक्षा के लिए उसने कितने तूल-तरीके अपनाए हैं।

इसी प्रकार की साक्षी हमें कामुकता और प्रेम के क्षेत्र में मिलती है। जब कोई व्यक्ति अपने वैषयिक उद्देश्य तक पहुँचना चाहता है तो काम-भाव पैदा हो जाते हैं। ध्यान के केन्द्रीकरण द्वारा वह संघर्षमय कर्त्तव्यों और परस्पर विरोधी हितों को दूर करके समयोपयोगी भाव उभारता है। ऐसे भावों और क्रियाओं का अभाव—जैसे कि नपुंसकता, समयेतर स्खलन, विकृत-रति या पौरुष-हीनता में—अनुपयुक्त कार्यों और हितों को दूर न करने से ही सम्भव होता है। इस तरह की असाधारण क्रियाएँ बड़प्पन के एक गलत ध्येय और जीवन की एक गलत प्रणाली का ही परिणाम होती हैं। ऐसे उदाहरणों में हमें सदा अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करने की प्रवृत्ति ही दीखती है, दूसरों का ध्यान करने की नहीं; और सामाजिक भावना का अभाव और साहस अथवा आशापूर्ण सक्रियता में विफलता ही प्रदर्शित होती है।

मेरा एक रोगी, जो अपने माँ-बाप की दूसरी सन्तान था, अपराध की असाध्य भावना से पीड़ित रहता था। उसके पिता और बड़े भाई दोनों सचाई पर सदा ही बड़ा ज़ोर दिया करते थे। जब यह लड़का सात वर्ष का था तो उसने

अपने स्कूल के अध्यापक से यह कह दिया कि घर के लिए दिया गया काम उसने स्वयं किया है जबकि सचाई यह थी कि यह काम उसके बड़े भाई ने उसे कर दिया था। लड़के ने अपराध की अपनी भावनाओं को तीन वर्ष तक छिपाए रखा। अन्त में वह अपने अध्यापक के पास गया और अपना भयंकर झूठ बयान किया। अध्यापक ने हँसकर बात उड़ा दी। इसके बाद आँखों में आँसू भरकर वह अपने पिता के पास गया और अपने झूठ की बात बताई। इस बार वह अपने उद्देश्य में सफल रहा। पिता ने अपने लड़के के सचाई से लगाव का गर्व किया, उसकी प्रशंसा की और उसे सान्त्वना दी। बावजूद इसके कि उसके पिता ने उसे क्षमा कर दिया था, वह लड़का कुछ निरुत्साहित ही रहा। हम इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि इस ज़रा-सी बात के लिए अपने पर ऐसी कड़ाई से आरोप लगाकर यह लड़का केवल अपनी अटूट सत्य-तत्परता और नेकी को सिद्ध करने की कोशिश में ही लगा था। उसके घर का उच्च नैतिक वातावरण उसे नेकी की होड़ में आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करता था। स्कूल की पढ़ाई और सामाजिक मेल-मिलाप में वह अपने बड़े भाई से अपने को हीनतर पाता था। उसने उच्चता प्राप्त करने का इसलिए यह नया ढङ्ग ही रचा।

पीछे जीवन में आत्म-तिरस्कार के दूसरे आरोपों से भी वह दुःखी रहा। वह हस्त-मैथुन का शिकार था और पढ़ाई वगैरा में धोखा देने से बाज़ नहीं आता था। उसकी अपराध की भावना

हमेशा किसी भी परीक्षा से पहले बढ़ जाया करती थी। जिस तरह वह बड़ा होता गया इस तरह की कठिनाइयों का ढेर उसने जमा कर लिया। उसने आन्तरिक भावुकता के कारण अपने अन्दर अपने बड़े भाई से बहुत अधिक बोझा इकट्ठा कर लिया और उससे बराबरी बनाए रखने के लिए अपनी सारी विफलताओं के लिए बहाना भी इस तरह जुटा लिया। महाविद्यालय की शिक्षा समाप्त करके उसने यान्त्रिक काम करने की योजना बनाई; लेकिन अपराध की जो भावनाएँ उस पर हावी थीं वे इतनी तीक्ष्ण हो गईं कि सारा-सारा दिन वह यही प्रार्थना किया करता था कि प्रभु उसे क्षमा कर दें। काम करने के लिए तो इस तरह उसे समय नहीं बचता था।

अब उसकी हालत इतनी बिगड़ गई कि उसे आरोग्य-भवन में भेजना पड़ा और वहाँ उसकी स्थिति असाध्य समझी गई। लेकिन कुछ समय पश्चात् वह सुधरा और उसने आरोग्य-भवन इस शर्त पर छोड़ दिया कि यदि उसकी हालत दुबारा बिगड़ जाय तो उसे फिर से वहाँ प्रविष्ट कर लिया जाय। उसने अपने व्यवसाय में परिवर्तन कर लिया और कला के इतिहास का विद्यार्थी बन गया। अब परीक्षा का समय निकट आया। एक सार्वजनिक छुट्टी के दिन वह गिरजाघर गया। बड़ी भीड़ के सामने ही वह भूमि पर लेट गया और पुकारने लगा—"सब मनुष्यों में मैं ही बड़ा पापी हूँ।" इस तरह वह अपनी भावुक अन्तरात्मा के प्रति ध्यान आकृष्ट करने में फिर सफल हुआ।

कुछ समय फिर आरोग्य-भवन में रहने के बाद वह घर लौट आया। एक दिन शाम को खाना खाने के लिए वह नंगा ही चला आया। वह हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति था और इस बात में अपने भाई और दूसरे लोगों से बराबरी का दावा बखूबी कर सकता था।

उसकी अपराध की भावना दूसरों से अधिक ईमानदार दीखने के लिए उसका साधन थी और इस तरह वह बड़प्पन पाने के लिए आतुर था। लेकिन उसके प्रयत्न जीवन के निरर्थक भाग की ओर निर्दिष्ट थे। परीक्षाओं और व्यवसाय से उसका बच निकलना उसकी कायरता और अपर्याप्तता के गहरे भावों की ओर संकेत करता था। उसकी सारी नाड़ी-विकृति जान-बूझकर उन सब कर्त्तव्यों से, जहाँ उसे हार की अपेक्षा हो सकती थी, बचे रहने का तरीका था। बड़प्पन के लिए ऐसे ही भद्दे प्रयत्नों का प्रयोग गिरजाघर में सबके सामने भूमि पर लेटने और भोजन-गृह में उसके निरवस्त्र प्रवेश से प्रत्यक्ष होता था। उसकी जीवन-प्रणाली इन्हीं की माँग करती थी और जो भावनाएँ वह प्रस्तुत करता था वे पूर्णतया समुपयुक्त थीं।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के पहले चार या पाँच वर्षों में ही अपने मन की एकता और मन और शरीर के सम्बन्ध का निर्माण कर लेता है। अपने पैतृक स्वभाव और परिस्थितियों से उसे जो सूझ-बूझ प्राप्त होती है, बड़प्पन के उद्देश्य में वह उसका प्रयोग करने लगता

है। पाँचवें वर्ष के अन्त तक उसके व्यक्तित्व की नींव रखी जा चुकी होती है। जीवन को जो अर्थ वह देता है, जिस उद्देश्य के पीछे लगा रहता है, उसकी कार्य-साधन-प्रणाली और उसकी भाव-प्रवृत्ति (इमोश्नल डिस्पोज़ीशन), सबका निश्चय हो जाता है। इनमें पीछे परिवर्तन हो सकता है, परन्तु यह परिवर्तन बचपन में व्यक्तित्व के स्थिर होते समय जो भूल हो चुकी है उसके दूर हो जाने पर ही सम्भव है। जिस तरह उसकी सब अभिव्यक्तियाँ उसके जीवन की व्याख्या से मेल खाती थीं ठीक उसी तरह, यदि वह भूल सुधारने में सफल हो जाय, तो अब उसकी सब अभिव्यक्तियाँ जीवन के नये अर्थ से मेल खाएँगी।

इन्द्रियों के साधन द्वारा ही एक व्यक्ति अपने वातावरण के स्पर्श में आता है और उससे संस्कार संजोता है। इसलिए जिस तरह अपने शरीर को वह शिक्षित कर रहा है, उससे हम यह जान सकते हैं कि किस तरह के संस्कारों को अपनाने के लिए वह उद्यत है, और वह अपने अनुभव का लाभ उठाने के यत्न में है। यदि हम यह ध्यान से देखें कि वह क्या और कैसे देखता और सुनता है और किस ओर उसका ध्यान आकर्षित हो जाता है तो हम उसके विषय में बहुत-कुछ जान जायँगे। यही कारण है कि भावभङ्गी (पोश्चर्स) का इतना महत्त्व होता है। इनसे पता चल जाता है कि इन्द्रियों को क्या शिक्षा मिली है और संस्कारों के चुनाव में उनका किस तरह प्रयोग हो रहा

है। भावभङ्गी सदा अभिप्रायों से ही बना करती है।

अब हम मनोविज्ञान की अपनी व्याख्या को कुछ बढ़ा सकते हैं। शरीर के संस्कारों के प्रति किसी व्यक्ति के दृष्टिकोण से परिचय पाना ही मनोविज्ञान है। अब हम यह भी जान सकते हैं कि मनुष्यों के मनों की महान् विषमताएँ क्योंकर पैदा हो जाती हैं। जो शरीर वातावरण के उपयुक्त नहीं है और वातावरण की माँगों को पूरा करने में जिसे कठिनाई होती है उसे प्रायःतर मन बोझ-रूप ही समझेगा। इसी कारण जिन बच्चों को विकृत अङ्गों का कष्ट सहना पड़ा है उन्हें अपने मानसिक विकास में साधारण से अधिक साधनों का सामना करना पड़ता है। उनके मनों के लिए बड़प्पन की स्थिति की ओर शरीरों को बढ़ाना, प्रभावित करना और प्रभुत्व रखना मुश्किल हुआ करता है। मन को अधिक प्रयत्न करना पड़ता है और एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्हें दूसरों से अधिक मानसिक एकाग्रता की आवश्यकता होती है। इस तरह मन पर अधिक बोझ पड़ा रहता है और वे स्वकेन्द्रित और आत्म-दम्भी हो जाते हैं। जब कोई बच्चा अपने अङ्गों की विकृतता और गति की कठिनाई के ध्यान में ही डूबा रहे, तो निजेतर बातों पर ध्यान देने के लिए उसके पास समय नहीं होता। उसके पास दूसरों में दिलचस्पी लेने के लिए न तो समय और न ही स्वतन्त्रता होती है। परिणामस्वरूप संकुचित सामाजिक भावना

और दूसरों से सहयोग करने की समर्थता को लेकर वह बड़ा होता है।

विकृत अङ्ग कई तरह से बाधा तो बनते हैं, परन्तु ये बाधाएँ ऐसी नहीं होतीं कि इनसे पार न पाया जा सके। यदि मन स्वयं सक्रिय हो और कठिनाइयों को जीतने का भरसक यत्न करे, तो उन व्यक्तियों की तरह, जिन पर कि आरम्भ में बोझ नहीं पड़ा था, उस व्यक्ति का सफल होना भी सम्भव है। बाधाओं के बावजूद भी विकृत अङ्गों वाले बच्चे साधारण अङ्गों से सम्पन्न बच्चों से अधिक सफल होते देखे गए हैं। उनके लिए वह बाधा आगे बढ़ने की प्रेरणा बन गई। उदाहरण के लिए आँखों के विकार की वजह से किसी लड़के को भारी कष्ट हो सकता है। उसकी कोशिश हमेशा देखने में लगी रहती है। आँखों से दीखने वाले संसार की ओर उसका ध्यान अधिक रहता है। रंग और रूप के भेद में उसकी अधिक दिलचस्पी रहती है। अन्त में दृष्टिगत जगत् का अनुभव उसे उन बच्चों से कहीं अधिक हो जाता है जिन्हें कभी ऐसा संघर्ष नहीं करना पड़ा या छोटे-छोटे भेदों पर ध्यान नहीं देना पड़ा। इस तरह एक अपूर्ण अंग बहुत लाभदायक भी सिद्ध हो सकता है, परन्तु उसी हालत में जबकि मन ने कठिनाइयों को जीतने का ढंग जान लिया हो। बड़े चित्रकार और कवियों में से कितने ही ऐसे थे जिन्हें कि दृष्टि-विकार था। इन विकारों पर सुचारु मनों का प्रभुत्व था और इसीलिए ये लोग साधारण दृष्टि वाले

लोगों से अपनी आँखों का बेहतर प्रयोग करने लग गए। इसी तरह का सन्तुलन हम अधिक आसानी से उन बच्चों में देख सकते हैं जो काम-काज में बाएँ हाथ का प्रयोग करते हैं, लेकिन जिनके विषय में यह बात अभी तक जानी नहीं गई। घर अथवा स्कूल के अपने आरम्भ के दिनों में उन्हें अपने अशक्य दाहिने हाथ के प्रयोग की शिक्षा दी गई थी। इस तरह लिखने, चित्र बनाने अथवा दस्तकारी के लिए वे सुसज्जित नहीं थे। यदि इन कठिनाइयों को पार करने के लिए मन का प्रयोग हो, तो सम्भव है कि यह अशक्य दाहिना हाथ कलाकृति में ऊँची निपुणता प्राप्त कर सके। ठीक ऐसा हो भी जाया करता है। कितने ही उदाहरणों में बाएँ हाथ का प्रयोग करने वाले बच्चे दूसरों से सुन्दर हस्तलेख लिखते हैं, चित्रकारी में अधिक चातुर्य और दस्तकारी में अधिक पटुता ले आना सीख लेते हैं। ठीक ढंग का पता लगाकर, दिलचस्पी, शिक्षा और अभ्यास से, वे एक बाधा को लाभ में बदल लेते हैं।

केवल वही बच्चा, जिसे सम्पूर्ण में 'प्रदान' करने की इच्छा हो, जो स्वयं ही अपने ध्यान का केन्द्र न हो, अपनी कमियों का सन्तुलन करने की शिक्षा पा सकता है। यदि बच्चों की यही इच्छा हो कि किसी तरह कठिनाइयों से पीछा छुड़ाया जाय तो वे पीछे ही रह जायँगे। वे अपने उत्साह को तभी बनाए रख सकते हैं, यदि अपने प्रयत्नों का कोई उद्देश्य उनके सामने हो और यदि वे उस उद्देश्य की सफलता को रास्ते की अड़चनों

से अधिक महत्त्वपूर्ण समझें। समस्या तो यह है कि उनकी दिलचस्पी और ध्यान किधर लग रहा है। यदि वे अपने से बाहर किसी उद्देश्य की ओर प्रयत्नशील हैं तो स्वाभाविक है कि उसकी प्राप्ति के लिए वे अपने को सुशिक्षित व सुसज्जित करेंगे। इस दशा में कठिनाइयाँ रास्ते की उन बाधाओं से अधिक न रह जायँगी जिन्हें सफलता तक पहुँचने के लिए जीतना ही है। लेकिन यदि उनकी दिलचस्पी अपनी कमियों पर जोर देने में ही हो अथवा इन भूलों से केवल इस उद्देश्य से संघर्ष करने में कि इनसे किसी तरह छुटकारा पाया जाय, तो वे कोई वास्तविक उन्नति नहीं कर सकेंगे। एक ढीले-ढाले हाथ को केवल सोच-विचार से अथवा यह चाहकर ही कि यह कम ढीला हो जाय, अथवा ढीलेपन से बचाकर ही एक अभ्यस्त और निपुण हाथ नहीं बनाया जा सकता। यह तो तभी निपुण हो सकता है जब वास्तविक क्रियाओं का अभ्यास किया जाय। ऐसी क्रियाओं की ओर प्रेरणा का वेग उस उत्साह-हीनता से अधिक प्रबल होना चाहिए जो कि अब तक हाथ के ढीला होने पर रहा है। यदि किसी बच्चे को अपनी शक्ति एकत्रित करनी है और अपनी कठिनाइयों से पार पाना है, तो उसकी सब चेष्टाओं का अपने से बाहर कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य होना चाहिए—एक ऐसा उद्देश्य जो वास्तविकता में, दूसरों में और सहयोग में दिलचस्पी की नींव पर आश्रित हो।

पैतृक स्वभाव और उसका प्रयोग किस तरह हो सकता है.

इसका एक अच्छा उदाहरण मुझे उन परिवारों में खोज से मिला जो गुर्दों की कमजोरी से पीड़ित थे। प्रायः इन परिवारों के बच्चे बेबस मूत्र निकल जाने के रोगी थे। गुर्दों की कमजोरी तो वास्तविक थी, यह गुर्दों के मूत्रकोष में देखी जा सकती थी। इस तरह रीढ़ की हड्डी के नीचे शृङ्खला में रिक्त-स्थान (स्पाईना बिफिडा) के रोग में और प्रायः कमर के पिछले हिस्से (लम्बर सैग्मेण्ट) के विकार का सन्देह उस हिस्से की त्वचा के तिल अथवा जन्म के समय किसी निशान से हो सकता है। लेकिन मूत्र-प्रवाह पर वश न होने का पर्याप्त कारण गुर्दों की कमजोरी नहीं है। बच्चा अपने अंग के दबाव में नहीं होता, पर वह उनका प्रयोग अपने तरीके से करता है। उदाहरण के तौर पर कुछ बच्चे रात को सोये-सोये मूत्र कर दिया करते हैं और दिन में कभी ऐसा नहीं करते। कभी-कभी यह आदत वातावरण में परिवर्त्तन होने से अथवा माँ-बाप के व्यवहार बदलने पर एक-दम छूट जाती है। मूत्र पर बेबसी का रोग, दुर्बल मन के बच्चों को छोड़कर, शेष बच्चों में दूर किया जा सकता है, बशर्ते कि बच्चे अपने अंगों की कमजोरी का अपने गलत उद्देश्यों के लिए प्रयोग छोड़ दें।

लेकिन मुख्यतया जो बच्चे मूत्र-प्रवाह पर बेबसी के रोग से पीड़ित होते हैं उन्हें प्रायः इसे जारी रखने की ही उत्तेजना मिला [करती है, परन्तु यदि माता ही चतुर न हो तो एक अनावश्यक कमजोरी बनी रहती है। प्रायः उन परिवारों में,

जहाँ कि गुर्दों के रोग अथवा मूत्र-कोष की कमजोरियाँ हों, मूत्र सम्बन्धी हर बात को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया जाता है। भूल से माताएँ भरसक प्रयत्न करती हैं कि मूत्र-प्रवाह में बेबसी जाती रहे। यदि बच्चा यह जान जाय कि इस बात का कितना महत्त्व है तो शायद वह इसका प्रतिरोध करेगा। इस तरह की शिक्षा के प्रति अपना विरोध जताने का एक बड़ा अच्छा अवसर उसके हाथ लगेगा। यदि कोई बच्चा अपने माँ-बाप द्वारा मिल रहे उपचार का प्रतिरोध करता है तो उनकी इस दुर्बलता की बात पर हमला करने का रास्ता वह ढूँढ़ ही लेगा। जर्मनी के एक सुविख्यात समाज-शास्त्री ने इस बात का पता लगाया है कि अपराधियों की एक बड़ी संख्या उन्हीं परिवारों से आती है जो अपराधों के दबाने में रत रहते हैं—न्यायाधीशों, सिपाहियों अथवा जेलों के दारोगों के परिवारों से। शिक्षकों के बच्चे प्रायः मूढ़ हुआ करते हैं। मैंने अपने अनुभव में भी इस बात को ठीक पाया है। डॉक्टरों के बच्चों में नस-विकृति (न्यूरोसिस) से पीड़ितों की और धर्म-शिक्षकों के बच्चों में कुपथगामी बच्चों की काफी संख्या मैंने देखी है। इसी तरह उन बच्चों के पास, जिनके माता-पिता मूत्र-प्रवाह पर अधिक महत्त्व दिया करते हैं, यह जताने के लिए कि अपनी इच्छा-शक्ति भी है, यह बहुत ही सुगम और स्पष्ट मार्ग हुआ करता है।

मूत्र-प्रवाह पर बेबसी इस बात का भी एक अच्छा उदाहरण

है कि जिन क्रियाओं के हम इच्छुक हैं उनके लिए उपयुक्त भावनाएँ उत्पन्न करने में स्वप्नों को किस तरह प्रयोग किया जाता है। बच्चे जो रात को बिछौने में ही मूत्र कर दिया करते हैं वे प्रायः स्वप्न देखा करते हैं कि बिछौना छोड़कर वे पेशाब-घर की ओर गये। इस तरह वे अपने लिए बहाना घड़ लेते हैं। अब वे बिछौने में ही मूत्र कर सकते हैं। इस तरह मूत्र-प्रवाह से दूसरों का ध्यान आकर्पित करने का, दूसरों पर जोर दिखाने का, दूसरों का दिन की तरह रात को भी ध्यान पाये रखने का ध्येय साधारणतया पूरा होता है। कभी इसका ध्येय उन्हें अपने विरुद्ध करने का भी होता है; यह आदत शत्रुता की घोषणा के समान है। बच्चा मुख के स्थान पर यहाँ अपने मूत्र-कोष से बोलता है। गुर्दों की कमजोरी तो उसके विचारों के प्रकाश के साधन से अधिक और कुछ नहीं हो पाती।

जो बच्चे इस तरह अपना विचार-प्रकाश किया करते हैं वे सदा एक खिंचाव से पीड़ित रहते हैं। प्रायः वे उन बिगड़े बच्चों की श्रेणी से आते हैं जो दूसरों के ध्यान और आकर्षण का केन्द्र होने की स्थिति गँवा चुके होते हैं। शायद घर में किसी दूसरे बच्चे का जन्म हो चुका है और अपनी माता का अखण्ड ध्यान पाने में वे कठिनाई अनुभव कर रहे हैं। इस रूप में अवश मूत्र-प्रवाह अपनी माता के समीपतर आने की कोशिश है, चाहे यह मार्ग अप्रिय ही क्यों न हो। जैसे वह ऐसा कह रहा हो—"मैं इतना बड़ा नहीं हो गया जैसा कि तुम सोच रही

हो, मेरा तो अब भी ध्यान करना ही पड़ेगा।" किसी दूसरी परिस्थिति में अथवा किसी दूसरे अंग की कमजोरी होने पर उसने भिन्न साधन बरते होते। शायद उसने सम्बन्ध जताने के लिए आवाज का प्रयोग किया होता और ऐसा होने पर रात को वह बेचैन रहता और चीखता-चिल्लाता। कुछ बच्चे नींद में घूमा-फिरा करते हैं, बुरे-बुरे स्वप्न देखते हैं, बिछौने से नीचे गिर जाते हैं और प्यासे होकर पानी की पुकार करते हैं। इन अभिव्यक्तियों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि एक समान है। लक्षणों का चुनाव कुछ तो अंग-प्रत्यंगों की दशा पर और कुछ परिस्थितियों पर निर्भर है।

ऐसे मामलों से मन का शरीर पर जो प्रभुत्व हुआ करता है वह प्रत्यक्ष हो जाता है। मालूम तो ऐसा होता है कि मन शरीर के किसी अंग की विकृति के विशेष लक्षणों का ही चुनाव नहीं करता, यह शरीर की समस्त रचना को ही प्रभावित करता है और उस पर प्रभुत्व रखता है। इस अनुमान का हमारे पास कोई सीधा प्रमाण नहीं है और कोई प्रमाण कभी मिल भी सकता है यह भी कठिन दीख पड़ता है। लेकिन जो साक्षी मिलती है, वह स्पष्ट है। यदि कोई बच्चा कायर है तो उसकी कायरता उसके सारे शारीरिक विकास से झलकती है। शारीरिक खूबियों की वह परवाह नहीं करेगा। परिणामस्वरूप उसे यह कभी विचार नहीं आएगा कि वह ठीक ढंग से मांस-पुट्ठों की कसरत करे और उन सब बाह्य प्रभावों को वह अपने से दूर रखेगा जो

साधारणतया मांस-पुट्ठों की उन्नति को उत्तेजना दें। दूसरे बच्चे, जो अपने पुट्ठों की कसरत में दिलचस्पी लेते या इस विषय में अपने को प्रभावित होने देते हैं, शारीरिक स्वास्थ्य में आगे बढ़ जायँगे। वह पीछे रह जायगा, क्योंकि उसकी दिलचस्पी अवरुद्ध है।

इस प्रकार के उदाहरणों से हम काफी हद तक इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि शरीर का समस्त रूप और विकास मन से प्रभावित होता है और मन की भूलें व कमियाँ इसमें प्रतिबिम्बित होती हैं। हम प्रायः ऐसी कितनी ही शारीरिक गतिविधियाँ देख सकते हैं जो स्पष्टतया मानसिक विफलताओं का अन्तिम परिणाम हुआ करती हैं, जहाँ किसी कठिनाई से पार पाने का तरीका अभी खोज नहीं लिया गया। उदाहरण के तौर पर हमें निश्चय रूप से मालूम है कि जीवन के पहले चार-पाँच वर्षों में प्रणालीहीन ग्रन्थियाँ (इण्डोक्रीन ग्लैंड्स) प्रभावित हो सकती हैं। विकृत ग्रन्थियाँ व्यवहार पर कभी बहुत प्रभाव नहीं डाल सकतीं, इसके विपरीत सारा वातावरण, बच्चा जिस रूप में प्रभाव संजोता है वह ढङ्ग, और इस आकर्षक परिस्थिति में उसके मन की सृजनात्मक क्रियाशीलता उस पर सदैव प्रभाव डालते रहते हैं।

एक और सबूत है जिसे शायद जल्दी समझा और मान लिया जाय, क्योंकि इससे हमारी अधिक पहचान है और यह शरीर के स्थायी चरित्र पर प्रभाव नहीं डालता—केवल

अस्थायी अभिव्यक्ति का कारण बनता है। कुछ हद तक प्रत्येक भाव को कोई-न-कोई शारीरिक अभिव्यक्ति भी मिलती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने भावों को प्रत्यक्ष दृष्टिगत रूप में प्रकट करता है—शायद अपनी भावभंगी और रवैये में, शायद अपने मुख पर, शायद अपनी टाँगों और घुटनों के कम्पन में। इस तरह के परिवर्तन अंग-प्रत्यंग में देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि उसका मुख लाल हो जाता है या पीला पड़ जाता है, तो शरीर में रक्त के प्रवाह पर असर पड़ता है। क्रोध, चिन्ता, दुःख अथवा किसी भी दूसरे प्रकार के भावों में शरीर भी बोलता है, और हर व्यक्ति का शरीर अपनी-अपनी बोली बोलता है। कोई व्यक्ति डर की दशा में काँपने लगता है, दूसरे के रोंगटे खड़े हो जाते हैं, तीसरे के दिल की धड़कन बढ़ जाती है, किसीको पसीना आ जाता है या दम घुटने लगता है, भर्राई आवाज में बोलने लगता है, गुमसुम हो जाता है और डर से भाग जाता है। कभी-कभी शरीर की चाल-ढाल प्रभावित हो जाती है, भूख नहीं लगती, वमन तक आने लगता है। ऐसे भावावेश में कुछ के मूत्रकोष, कुछ के दूसरे लिंगों पर प्रभाव पड़ता है। परीक्षाएँ देते हुए कई बच्चों के लिंगों को उत्तेजना मिलती है और यह बात सर्वज्ञात है कि कोई बड़ा अपराध करने के बाद अपराधी प्रायः वेश्याओं के अथवा अपनी प्रेयसी के घर जाया करते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में कई मनोवैज्ञानिक ऐसे मिलते हैं जिनका दावा है कि चिन्ता और कामुकता एक

साथ रहती हैं और ऐसे मनोविज्ञान-शास्त्री भी हैं जो कहते हैं कि इनमें दूर का सम्बन्ध भी नहीं है। सबका दृष्टिकोण उनके वैयक्तिक अनुभवों पर टिका होता है, इसलिए कुछ के अनुसार तो इनमें सम्बन्ध होता है, शेष के अनुसार नहीं।

ये सब प्रतिक्रियाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों की हुआ करती हैं। कुछ हद तक शायद यह पाया जा सके कि वे पैतृक हैं और इस प्रकार की शारीरिक अभिव्यक्तियों में परिवार की कमजोरियों और असाधारणताओं की ओर प्रायः इशारा भी मिलता है। सम्भव है कि परिवार के दूसरे व्यक्ति भी बहुत-कुछ मिलती-जुलती शारीरिक प्रतिक्रिया करें। लेकिन जो बात दिल-चस्पी से ध्यान देने योग्य है वह यह है कि किस तरह भावों के साधन से मन शारीरिक दशा में हलचल लाने में समर्थ होता है। भाव और उनकी शारीरिक अभिव्यक्ति हमें बताती है कि किस तरह किसी ऐसी परिस्थिति में, जिसे लाभदायक अथवा हानिकारक समझा जाय, मन की क्रिया और प्रतिक्रिया कैसी होती है। उदाहरण के तौर पर बहुत क्रुद्ध होने पर व्यक्ति अपनी अपूर्णता पर जल्द-से-जल्द पार पाने की इच्छा करता है। इसका सबसे अच्छा ढंग यही सूझता है कि किसी दूसरे व्यक्ति पर आरोप लगाया जाय, आक्रमण किया जाय या चोट पहुँचाई जाय। उधर क्रोध अंगों को प्रभावित करता है, किसी कार्यवाही के लिए उन्हें तैयार करता है अथवा उन पर अधिक बोझ डालता है। कुछ लोगों को क्रोधित होने पर साथ-ही-साथ

पेट में भी विकार हो जाता है अथवा उनके मुख पर लाली फैल जाती है; उनके रक्त-प्रवाह में इस हद तक गड़बड़ हो जाती है कि सिर दुखने लगता है। सदैव सिर-दर्द का कारण हमें प्रायः अव्यक्त क्रोध अथवा शर्म ही मालूम हुआ करता है और कुछ लोगों को तो क्रोध से पंचम-स्नायु-युग्म की पीड़ा (ट्रिजे-मिनल न्यूराल्जिया) अथवा मृगी के हमले तक हो जाते हैं।

किस प्रकार शरीर प्रभावित हो जाता है यह पूरी तरह नहीं जाना जा सका, और शायद हम इसका पूरा व्यौरा ठीक तरह जान भी न पाएँ। मन का तनाव स्वतन्त्र-शारीरिक-पद्धति (वॉलण्टरी सिस्टम) और नाड़ी-तन्त्र (नर्व सिस्टम) दोनों को प्रभावित करता है। जब खिंचाव होता है तो शारीरिक पद्धति सक्रिय हो उठती है। व्यक्ति मेज़ पर उँगलियाँ बजाने लगता है, ओंठों को खुजाने लगता है अथवा कागज के टुकड़े करने में प्रवृत्त हो जाता है। यदि उसमें आवेश (टेन्शन) भर गया है तो उसे किसी-न-किसी प्रकार तो गति करनी ही पड़ेगी। पेंसिल अथवा सिगार चबाने से भी उसे आवेश को गँवाने का ढंग मिल जाता है। ये गतियाँ दरशाती हैं कि वह किसी परि-स्थिति से अपने को घिरा हुआ समझ रहा है। यही बात अपरि-चितों में लजाने, काँपने अथवा आकृति-विकार में स्पष्ट होती है। ये सब आवेश के परिणाम हैं। नाड़ी-तन्त्र के साधन से इस खिंचाव का सारे शरीर में प्रसार कर दिया जाता है और इस तरह प्रत्येक भावावेश से सारे शरीर में ही खिंचाव पैदा हो जाता

है। इस आवेश का आकार हर जगह स्पष्ट नहीं होता; और हम केवल उन्हीं जगहों पर लक्षणों की बात करते हैं जहाँ कि वे खोजे और पाए जा सकते हैं। यदि हम ध्यान से देखें तो हम पाएँगे कि शरीर का हर भाग भावात्मक अभिव्यक्ति में हिस्सा लेता है; और ये शारीरिक अभिव्यक्तियाँ मन और शरीर की क्रिया और प्रतिक्रिया का परिणाम होती हैं। यह आवश्यक है कि हम सदा मन की शरीर पर और शरीर की मन पर पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया को देखा करें, क्योंकि ये दोनों उस सम्पूर्ण के ही अंश हैं जिसका कि हम अध्ययन कर रहे हैं।

इन सबूतों से यह निष्कर्ष निकालना गलत न होगा कि जीवन-प्रणाली और उसके साथ ही भावात्मक प्रकृति शरीर के विकास को निरन्तर प्रभावित करती रहती है। यदि यह सच है कि हरेक बच्चा अपनी जीवन-प्रणाली को बहुत आरम्भ के दिनों में ही स्थिर कर चुका होता है, तो पर्याप्त मात्रा में अनुभवी हो जाने पर हम परिणामस्वरूप उसकी शारीरिक अभिव्यक्ति का भावी रूप पता लगाने में सफल हो सकते हैं। एक साहसी व्यक्ति अपने दृष्टिकोण के प्रभाव अपने शरीर-गठन में दिखाएगा। उस का शरीर भिन्न तरीके से बना होगा; उसके पट्ठे बलशाली होंगे; उसकी चाल में दृढ़ता होगी। शायद चाल-ढाल भी काफी हद तक शरीर के विकास को प्रभावित करती है और पुट्ठों की बेहतर मजबूती का शायद यही कारण होती है। साहसी व्यक्ति के मुख के भाव भी भिन्न होते हैं और उसके अंग-प्रत्यंग

का ढलन ही निराला होता है। सम्भव है कि खोपड़ी का निर्माण तक भी प्रभावित हो।

आज इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मन मस्तिष्क को प्रभावित कर सकता है। रोग-विज्ञान (पैथॉलोजी) ने हमें ऐसे उदाहरण दिये हैं जहाँ खोपड़ी के एक हिस्से पर आघात से एक व्यक्ति ने पढ़ने या लिखने की सामर्थ्य गँवा दी, परन्तु इस सामर्थ्य को मस्तिष्क के दूसरे हिस्से के अभ्यास से फिर से पा लेना सम्भव हुआ। प्रायः ऐसा होता है कि किसी व्यक्ति को मृगी रोग का हमला होने पर और मस्तिष्क के आहत भाग को ठीक करने की सम्भावना न रहने पर भी मस्तिष्क का शेष भाग इस कमी को पूरा करता है, अंगों को फिर से सक्रिय कर देता है और इस तरह मस्तिष्क की सामर्थ्यों को सम्पूर्ण कर देता है। यह सत्य शिक्षा सम्बन्धी प्रयोगों में वैयक्तिक मनोविज्ञान की उपयोगिता जताने के लिए विशेषतया सहायक सिद्ध होगा। यदि मन मस्तिष्क पर इस प्रकार का प्रभाव रख सकता है; यदि मस्तिष्क केवल मन के हाथ का खिलौना-भर है – इसका बहुत महत्त्वपूर्ण साधन लेकिन फिर भी मन के अधीन एक साधन – तो इस साधन के विकास और उन्नति के तरीके हम ढूँढ सकते हैं। मस्तिष्क की एक स्थिर मात्रा लेकर पैदा हुए किसी व्यक्ति को जीवन-भर उसीसे सन्तोष करना आवश्यक नहीं है। ऐसे तरीके खोजे जा सकते हैं जिनसे मस्तिष्क जीवन के लिए अधिक सुयोग्य बनाया जा सके।

एक ऐसा मन, जिसने अपना उद्देश्य गलत दिशा में स्थिर कर लिया हो—उदाहरण के लिए जो सहयोग के सामर्थ्य का विकास न कर रहा हो—मस्तिष्क की उन्नति पर सहायक प्रभाव डालने में असफल होगा। हम देखते हैं कि इसी कारण जो बच्चे सहयोग करने में अशक्य होते हैं वे पिछले जीवन में भी अपनी बुद्धि का विकास, परखने-पहचानने का सामर्थ्य पैदा नहीं कर सकते। क्योंकि किसी भी वयस्क व्यक्ति के जीवन की सारी चाल-ढाल उसकी जीवन-प्रणाली के प्रभाव को स्पष्ट करती है जिसका ढाँचा उसने बचपन के पहले चार-पाँच वर्षों में बना लिया था, और क्योंकि जीवन को जिस भाव में उसने लिया है और जो अर्थ उसे दिये हैं उसका परिणाम हम प्रत्यक्ष रूप में देख सकते हैं, उसके सहयोग के आदान-प्रदान में जो बातें बाधाएँ बनकर खड़ी हैं उनका पता चलाकर हम उसकी विफलताओं को ठीक करने में सहायता दे सकते हैं। वैयक्तिक मनोविज्ञान में इस शास्त्र की ओर पहले कदम उठाए भी जा चुके हैं।

बहुत से लेखकों ने मन और शरीर की अभिव्यक्तियों में सतत सामञ्जस्यता की ओर इशारा किया है। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इन दोनों के बीच के पुल को ढूँढने का किसी ने यत्न नहीं किया। उदाहरण के लिए क्रेट्श्मर ने इस बात का विवरण दिया है कि किस तरह शरीर की बनावट से हम मन की विशेष प्रवृत्ति का आभास पा सकते हैं। इस तरह मानव-मात्र की बड़ी संख्या को कुछ विशेष किस्मों में विभाजन करने

में वे सफल हुए, जैसे एक किस्म 'पिक्नायड्स' की है—जिन लोगों का मुख गोल, नाक छोटी और मोटापे की ओर प्रवृत्ति होती है, ऐसे लोग जिनके विषय में जूलियस सीज़र ने ये शब्द कहे—

"मेरे पास ऐसे मनुष्य होने दो जो मोटे हों;
चिकने, घुटे सिर वाले मनुष्य और ऐसे जो रातों को सोया करें।"
(जूलियस सीज़र—अङ्क १, दृश्य २)

इस तरह की आकृति वाले मनुष्यों में क्रेट्श्मर ने विशिष्ट मानसिक दशा जताई है; परन्तु ऐसा लिखते हुए उसने यह नहीं बताया कि यह सम्बन्ध क्योंकर होता है। हमारी अपनी परिस्थितियों में, इस तरह के शरीर-निर्माण वाले व्यक्ति अंग-विकार से पीड़ित नहीं जान पड़ते; उनके शरीर हमारी संस्कृति के अयोग्य नहीं होते। शारीरिक रूप में तो वे दूसरों के समान ही अनुभव करते हैं। उन्हें अपने बल में भी विश्वास होता है। वे तेज़ मिजाज़ नहीं होते और यदि वे लड़ना चाहें तो वे अपने को लड़ने के योग्य भी समझते हैं। लेकिन दूसरों को अपना शत्रु समझने की अथवा जीवन में शत्रुभाव रखकर संघर्ष करने की उन्हें कोई जरूरत नहीं। मनोविज्ञान-शास्त्र के कुछ सिद्धान्ती उन्हें बाह्य-दर्शी (एक्स्ट्रोवर्ट) कहकर पुकारेंगे, परन्तु किसी कारण की व्याख्या नहीं करेंगे। उनमें बाह्य-दर्शी होने की हमें आशा इसलिए होगी क्योंकि अपने शरीरों से उन्हें किसी प्रकार का कष्ट या उत्तेजना नहीं मिलती।

इसकी तुलना में क्रेट्श्मर ने एक दूसरी जाति का विवरण दिया है जिसे 'स्किज़ायड' कहा है। या तो ये छोटे रह जाते हैं या बहुत लम्बे हो जाते हैं, नाक लम्बी और सिर अण्डे के समान होता है। उसके अनुसार ये लोभी, बेमिलनसार और अन्तर्मुखी (इण्ट्रोस्पेक्टिव) होते हैं, और यदि ये मानसिक उपद्रवों के शिकार हों तो दोहरे व्यक्तित्व वाले (स्किज़ोफ्रेनिक) बन जाते हैं। इस किस्म के व्यक्तियों के विषय में सीज़र ने इस तरह कहा है—

"उधर कैसियस की ढली हुई और भूखी-सी आकृति है, वह सोचता बहुत है, इस तरह के मनुष्य भयानक होते हैं।"

(जूलियस सीज़र—अंक १, दृश्य २)

शायद इस तरह के लोगों को विकृत अंगों की शिकायत रही हो और तदनुसार इनका विकास अपने में ही ध्यान-स्थित होकर निराशामय, और अपने में ही दिलचस्पी रखकर हुआ हो। शायद इन लोगों ने दूसरों की सहायता की अधिक याचना की हो और जब उन्हें जान पड़ा हो कि पर्याप्त मात्रा में इन्हें ध्यान नहीं मिलता तो ये अधिक कड़वे और सन्दिग्ध हो गए हों। फिर भी, जैसा कि क्रेट्श्मर ने माना है, हम कभी-कभी देखते हैं कि कितनी ही सुनिश्चित किस्म के व्यक्तियों ने, यहाँ तक कि 'पिक्नायड्स' ने भी, उन मानसिक विशिष्टताओं का विकास कर लिया जोकि 'स्किज़ायड' लोगों की विशिष्टता समझी जाती थी। इसका कारण हम समझ सकते हैं यदि

परिस्थितियों ने उन पर भिन्न-भिन्न प्रकार से बोझ डाला हो और वे कायर और निरुत्साहित बन गए हों। लगातार निरुत्साह से शायद हम किसी भी बच्चे को ऐसा व्यक्ति बना सकते हैं जो 'स्किज़ायड' किस्म की तरह व्यवहार करे।

यदि हम पर्याप्त मात्रा में अनुभव कर चुके हों तो किसी भी व्यक्ति की चाल-ढाल और अभिव्यक्ति के कुछ अंशों से ही यह पता लगा सकते हैं कि किस हद तक सहयोग की सामर्थ्य उसमें है। इस विषय में सम्यक् ज्ञान के बिना भी लोग सदा ऐसे लक्षणों की तलाश करते रहे हैं। सहयोग की आवश्यकता सदा ही हमें घेरे रहती है, और इस विक्षिप्त दुनिया में हम किस तरह का व्यवहार करें इस विषय में, वैज्ञानिक ढङ्ग से नहीं परन्तु अन्तःस्फुरण से हम थोड़ी-बहुत समझ भी जुटा चुके हैं। इसी तरह हम देख सकते हैं कि इतिहास की सब बड़ी उथल-पुथलों के पहले मनुष्यों के मनों ने इन उथल-पुथलों की आवश्यकता भाँप ली थी और उसे सम्भव करने के प्रयत्न कर रहे थे। जब तक हमारे प्रयत्न केवल अन्तः-स्फुरण पर ही आश्रित हों, भूलें और गलतियाँ आसानी से हो सकती हैं। लोगों ने सदा ही शारीरिक विकार वाले व्यक्तियों, कुरूप आकृति वालों अथवा कुबड़ों को नापसन्द किया है। बिना जाने ही वे उनके विषय में यह फैसला देते रहे हैं कि वे सहयोग में कम उपयुक्त सिद्ध होंगे। यह एक बड़ी ग़लती थी, परन्तु उनका फैसला शायद पूर्व-अनुभव की नींव पर

टिका था। इस तरह के शारीरिक विकार से पीड़ित व्यक्तियों में सहयोग की मात्रा किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है इसका तरीका तब तक नहीं जाना गया था। इसलिए उनके विकारों को अधिक महत्त्व दिया गया और सार्वजनिक भ्रान्तियों के वे शिकार हुए।

अब तक के अपने अध्ययन का हम संक्षेप रूप से फिर विवरण कर लें। जीवन के पहले चार या पाँच वर्षों में बच्चा अपने मानसिक प्रयत्नों को केन्द्रीभूत कर लेता है और उसके मन और शरीर में जो सम्बन्ध बनता है उसकी जड़ जमा लेता है। जीवनयापन की एक निश्चित प्रणाली, तदनुसार भावात्मक और शारीरिक विशिष्टताएँ अपना ली जाती हैं। इसके विकास में सहयोग की थोड़ी या बहुत मात्रा रहती ही है, और सहयोग की इसी मात्रा से ही हम किसी व्यक्ति का मूल्य-निर्णय या ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। सभी विफलताओं में एक बात, जो एक समान हुआ करती है, वह सहयोग करने के सामर्थ्य की कम मात्रा है। अब हम मनोविज्ञान की परिभाषा और भी बढ़ा सकते हैं। सहयोग की कमियों का ज्ञान ही मनोविज्ञान है। क्योंकि मन एक इकाई के समान है और इसकी सभी अभिव्यक्तियों में एक-सी ही जीवन-प्रणाली स्पष्ट होती है, किसी भी व्यक्ति के विचार और भावनाएँ आवश्यक रूप में उसकी जीवन-प्रणाली के अनुसार होनी चाहिएँ। यदि हमारा ऐसी भावनाओं से सामना हो, जो स्पष्ट रूप में कठिनाइयाँ पैदा कर रही हों और किसी व्यक्ति की

अपनी भलाई के विरुद्ध ही काम कर रही हों, तो शुरू में इन भावनाओं को बदलने की कोशिश बिलकुल ही व्यर्थ होगी। उस व्यक्ति की जीवन-प्रणाली को यह ठीक प्रकट करती है और उन्हें तभी निर्मूल किया जा सकता है जबकि जीवन-प्रणाली को ही बदल दिया जाय।

यहाँ वैयक्तिक मनोविज्ञान हमारे शिक्षा और निदान सम्बन्धी दृष्टिकोण के लिए हमें विशेष निर्देश दे सकता है। हमें कभी भी किसी एक विशिष्ट लक्षण अथवा किसी एक अभिव्यक्ति का उपचार नहीं करना चाहिए। हमें तो समस्त जीवन-प्रणाली में जो भूल हो चुकी है उसका पता लगाना चाहिए। अनुभवों की जो व्याख्या मन ने लगाई है, जीवन को जो अर्थ दिया है और शरीर वा परिस्थितियों से संजोए प्रभावों का जिन क्रियाओं में प्रत्युत्तर दिया गया है इनको जान लेना चाहिए। मनोविज्ञान का तो यही वास्तविक कर्तव्य है। इसे मनोविज्ञान नहीं कहा जा सकता कि बच्चे को सुई चुभाकर हम देखें कि वह कितना उछलता है, अथवा उसे गुदगुदाएँ और देखें कि वह कितने ऊँचे हँसता है। इस तरह की हरकतें, जो आज के मनोवैज्ञानिकों में पाई जाती हैं, शायद वास्तव में किसी व्यक्ति के मनोविज्ञान से कुछ हद तक हमें परिचित कर सकें, परन्तु उसी हद तक जहाँ कि एक निश्चित और विशिष्ट जीवन-प्रणाली की ये साक्षी दे सकती हैं। जीवन-प्रणाली ही मनोविज्ञान के अध्ययन और खोज का उचित विषय है। दूसरे सिद्धान्त, जो किन्हीं दूसरे विषयों के अध्ययन में

लग्न हैं, मुख्यतया शरीर-विज्ञान अथवा जीवशास्त्र में रत हैं। यही बात उन सबके विषय में भी सत्य है जो उत्तेजना (स्टिमुली) और उनकी प्रतिक्रिया की खोज करने में लगे हैं, या जो किसी भयंकर अनुभव (ट्रामा) के प्रभाव की छानबीन में व्यस्त हैं, या जो पैतृक सामर्थ्यों का परीक्षण करते हैं और यह बात देखने में रहते हैं कि किस तरह इन सामर्थ्यों का विकास होता है। लेकिन वैयक्तिक मनोविज्ञान में तो हम स्वयं जीवन-तत्त्व का, सम्पूर्ण मन का ही अध्ययन करते हैं; हम उस अर्थ का अध्ययन करते हैं जो व्यक्ति संसार को और अपने को देते हैं; हम उनके ध्येयों का, उनके प्रयत्नों की दिशा का और जीवन की समस्याओं के प्रति उनके दृष्टिकोण का समीक्षण करते हैं। मनोवैज्ञानिक विषमताओं को परखने की सबसे अच्छी कुञ्जी जो अब तक हम पा सके हैं वह सहयोग करने के सामर्थ्य की मात्रा के विवेचन में है।